जवाहरलाल नेहरू

भारत सरकार के 'प्रेस इन्फरमेशन ब्यूरो' के सौजन्य से—

राजनीति से दूर

यात्रा, साहित्य, शिक्षा और विज्ञान संबंधी
लेखों का संग्रह

लेखक

जवाहरलाल नेहरू

१९५०

सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन

प्रकाशक की ओर से

पं० जवाहरलाल नेहरू का वैसे अधिकांश समय राजनीति में ही जाता है, लेकिन सच यह है कि उनकी रुचि बहुत व्यापक है और उन्होंने उन बहुत-सी समस्याओं का भी अध्ययन किया है, जिनका राजनीति से परोक्ष भले ही हो, सीधा सम्बन्ध नहीं है। शिक्षा, साहित्य, भाषा, विज्ञान आदि दर्जनों विषयों में उनकी गहरी दिलचस्पी है और उनका वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करके उनके बारे में उन्होंने अपने विचार प्रकट किये हैं। यात्रा के प्रति तो उनका प्रेम सर्व-विदित ही है। उनका सैलानी स्वभाव उन्हें प्रायः ऐसे स्थानों में ले गया है, जहां जाना निरापद नहीं है और कई बार तो उनका जीवन घोर संकट में पड़ गया है। यात्रा के संस्मरणों में हमें लगता है, जैसे कोई कवि बोल रहा हो।

जैसा कि नाम से स्पष्ट है, प्रस्तुत पुस्तक में नेहरूजी के कुछ ऐसे लेखों का संग्रह किया गया है, जिनका विषय राजनीति नहीं है। इसमें कईएक तो देश-विदेश के यात्रा-संस्मरण हैं, जिनमें प्रकृति के कलापूर्ण वर्णन के साथ-साथ वहां पर बसने वाले लोगों के स्वभाव, सामाजिक रीति-रिवाज़ आदि का भी उल्लेख है। इनके अतिरिक्त अन्य लेखों में उन्होंने साहित्य के भंडार की श्रीवृद्धि, भाषा की वैज्ञानिकता, समाज-हित की दृष्टि से राष्ट्रीय योजना, महिलाओं की शिक्षा, विज्ञान का महत्व आदि-आदि विषयों पर विस्तार

से चर्चा की है। इन लेखों में हमें लेखक के व्यापक व आदर्शवादी दृष्टिकोण, छोटी-से छोटी चीज की भी गहराई में जाने की अद्भुत क्षमता, कला-प्रेम और विस्तृत अध्ययन एवं अन्वेषण का पता चलता है।

इस विषय की यह पहली ही पुस्तक प्रकाशित हो रही है। हमें विश्वास है कि पाठक उसे पसन्द करेंगे। पुस्तक की सामग्री के संकलन में 'मेरी कहानी', 'हिन्दुस्तान की समस्यायें', 'यूनिटी ऑव इंडिया', 'कुछ समस्याये', 'नेशनल हेरल्ड' आदि से साभार सहायता ली गई है।

पुस्तक के प्रकाशन में पर्याप्त विलम्ब हुआ और उसके कारण पाठकों को प्रतीक्षा करनी पड़ी, इसका हमें खेद है।

—मन्त्री

विषय-सूची

राजनीति से दूर

: १ :

छुटकारा

हरिपुरा-कांग्रेस खतम हो चुकी थी। ताप्ती के किनारे पर बाँसों का आश्चर्यजनक नगर सूना-सूना-सा लग रहा था। अभी दो ही एक दिन पहले तो यहाँ की सड़कें जीवन और उत्साह से भरी भीड़ से खचाखच थीं। सभी खुश-खुश, बहस-मुबाहिसा करते, हंसते-खिलखिलाते चले जा रहे थे और महसूस करते थे कि वे भी भारत के भाग्य के बनाने में हाथ बंटा रहे हैं; किन्तु वह लाखों की जनता एक बार ही अपने दूर-पास घरों की ओर चल दी और यह स्थिर और शान्त वायुमण्डल सूनेपन के बोझ से व्यथित हो उठा। धूल की आँधियाँ भी बन्द हो गईं। यहाँ आने पर फुरसत पा जाने का यह पहला ही मौका था और मैं ताप्ती के किनारे घूमने निकल गया। रात की बढ़ती हुई अंधियारी में मैं बहते हुए पानी की धारा तक चला गया। मुझे यह सोचकर कुछ अफसोस-सा हुआ कि यह विशाल नगर और डेरे, जो खेतों और ऊसर भूमि पर बनाये गए थे, जल्दी ही गायब हो जायंगे और फिर शायद ही इनका कोई नामोनिशान

बाकी रहे ! सिर्फ उनकी यादगार ही बनी रह जायगी। किन्तु फौरन ही अफसोस दूर हो गया और किसी दूर जगह को जाने की बहुत दिनों की इच्छा बलवती हो उठी, मुझ पर अधिकार कर गई। यह शारीरिक थकान नहीं थी, वरन दिमाग की व्यथा थी, जो तबदीली और ताजगी के लिए भूखी थी। राजनैतिक जीवन जी उबानेवाली चीज है और कुछ समय के लिए तो इससे मैंने छुट्टी ले ही ली थी। कुछ पुराना अभ्यास और नैतिकता मुझे जकड़े हुए थी; लेकिन दिन-ब-दिन इससे मन व्याकुल होता जा रहा था। जब मैं प्रश्नों का उत्तर देता, या भरसक मित्रों तथा साथियों से नम्रतापूर्वक बोलने की कोशिश करता तब मेरा मन कहीं और ही रहता। सुदूर उत्तर के पहाड़ों की गहरी घाटियों और बरफ से ढकी चोटियों और चीड़ और देवदार के पेड़ों से ढके हुए कगारों और हल्के ढालों पर मेरा मन विचर रहा होता। अब मैं हर तरफ से घेरे रहनेवाले प्रश्नों और समस्याओं से घबड़ाकर, कोलाहल से दूर, शान्ति तथा विश्राम की एक हल्की-सी सांस के लिए बेचैन हो रहा था।

आखिर मुझे मनचाही राह मिली और मैं अपनी दबी हुई तथा बहुत दिनों की इच्छा को पूरा करने चल पड़ा। जब छूटकर भाग जाने के लिए मेरे सामने द्वार खुल गया तब मैं मंत्रि-मण्डलों के बनने-बिगड़ने या अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के चक्कर में पड़कर अपने को क्यों दुःख देता ?

मैंने जल्दी से इलाहाबाद को प्रस्थान किया और वहाँ यह देखकर कि कुछ झगड़ा हो रहा है, मुझे बड़ा आश्चर्य

हुआ। बड़ी झुंझलाहट हुई और क्रोध भी। चूंकि कुछ मूर्ख और धर्मान्ध साम्प्रदायिक लोग झगड़े पैदा कर रहे हैं, इसी-लिए क्या मैं पहाड़ों पर जाने से रुक जाऊं? मैंने अपने मन में तर्क किया कि कुछ अधिक तो होना नहीं, हालत सुधर ही जायगी, और फिर यहाँ तो बहुत से समझदार आदमी हैं ही। इस तरह कोलाहल से दूर जाकर छुटकारा पाने की न दबने-वाली इच्छा के काबू होकर मैंने यह तर्क किया और अपने आपको धोखा दिया। जब मेरा काम इलाहाबाद में पड़ा हुआ था तब मैं कायर की भांति वहां से खिसक आया।

बाहर निकलकर मैं फौरन इलाहाबाद और वहां के झगड़ों को भूल गया, यहां तक कि हिन्दुस्तान की समस्याएं मेरे दिमाग के किसी कोने में जाकर खो-सी गईं। कुमायूं की पहाड़ियों में होकर अलमोड़े जानेवाली चक्करदार सड़क पर जैसे ही हम पहुंचे, मैं तो पहाड़ी हवा की मादकता में अपने को भूल-सा गया। अलमोड़े से आगे हम 'खाली' तक गए और अपनी इस यात्रा के आखिरी हिस्से को मजबूत पहाड़ी खच्चरों की पीठ पर तय किया। अब मैं 'खाली' में था, जहां पिछले दो वर्षों से जाने के लिए बेचैन हो रहा था।

सूरज डूब रहा था। पहाड़ी की चोटियां उसकी रोशनी में चमक रही थीं और घाटियों में खामोशी छाई थी। मेरी आंखें नन्दादेवी और उसकी पर्वत-मालाओं की सहचरी बर्फ से ढकी चोटियों को खोज रही थीं। हल्के बादलों ने उन्हें छिपा लिया था।

एक दिन जाता और दूसरा आता। मैंने जी भरकर

पहाड़ी हवा का आनन्द लिया और बरफ़ तथा घाटियों के रंग-बिरंगे दृश्यों को तबीयत भरकर निहारा। कितने सुन्दर और शांत थे वे! संसार की बुराइयां इनसे कितनी दूर और कितनी निस्सार थीं! पश्चिम और दक्षिण-पूर्व की ओर हमसे दो-तीन हजार फुट नीचे गहरी घाटियां दूर के प्रदेशों में जाकर मुड़ गई थीं। उत्तर की ओर नन्दादेवी और सफ़ेद पोशाक में उसकी सहेलियां सिर ऊंचा किये थीं। पहाड़ों के करारे बड़े डरावने थे और लगभग सीधे कटे हुए-से कभी-कभी नीचे बड़ी गहराई तक चले जाते थे; परन्तु उपत्यकाओं के आकार तरुण पयोधरोंकी तरह बहुधा गोल और कोमल थे। कहीं-कहीं वे छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट गए थे,जिन पर हरे-हरे लहलहाते खेत इन्सान की मेहनत को जाहिर कर रहे थे।

सवेरा होते ही मैं कपड़े उतारकर खुले में लेट जाता और पहाड़ों का सुकुमार सूर्य मुझे अपने हल्के आलिंगन में कस लेता। ठन्डी हवा से कभी-कभी मैं तनिक काप उठता; परन्तु फिर सूर्य की किरणें मेरी रक्षा के लिए आकर मुझे गरम और स्वस्थ कर देती।

कभी-कभी मैं चीड़ के पेड़ों के नीचे लेट जाता। सन-सन करती हुई हवा मेरे कानों में अनेक विचित्र बातें मन्द-मन्द कह जाती। मेरी संज्ञा उसकी तंद्रिल थपकियों से सो-सी जाती और मस्तिष्क शीतल हो जाता। मुझे अरक्षित देखकर और मुझ पर आघात के लिए ठीक अवसर पाकर वह हवा चतुराई से नीचे संसार के मनुष्यों के शठता-भरे ढंगों, सतत कलहों, उन्मादों तथा घृणाओं, धर्म के नाम पर हठधर्मी, राज-

नीति में व्यभिचार और आदर्शों से पतन की ओर संकेत करती। क्या इन सबके पास फिर लौटकर जाना उचित है? क्या इनसे सम्बन्ध स्थापित करना अपने जीवन के उद्योगों को व्यर्थ कर देना नहीं है? 'यहां शान्ति है, नीरवता है, स्वस्थता है और संगी-साथियों के रूप में यहां बर्फ है, पर्वत हैं, तरह-तरह के फूलों और घने पेड़ों से लदे हुए पर्वतों के बाजू हैं और है पक्षियों का कलरव गान!' यही वायु ने धीरे-से मेरे कानों में कहा और उस वासंती दिन की मनमोहक रमणीयता में मैंने उसे अपनी बात कहने से रोका नहीं।

पहाड़ी प्रदेश में अभी वसन्त का प्रभात ही था, अगर्चे नीचे समतल की ओर ग्रीष्म झांकने लगा था। पहाड़ियों पर गुलाब की तरह बड़े-बड़े सुन्दर रोडोडेनड्रन (Rhododendron) पुष्पों से रंजित लाल-लाल स्थल दूर से ही दीखते थे। पेड़ फलों से लदे हुए थे और अनगिनत पत्ते अपने नवीन, कोमल और सुन्दर हरे वस्त्रों से अनेक वृक्षों की नग्नता दूर करने के लिए बस निकलना ही चाहते थे।

'खाली' से चार मील पन्द्रह सौ फुट ऊंचे पर बिनसर है। हम वहां गए और एक चिरस्मरणीय दृश्य देखा। हमारे सामने तिब्बत के पहाड़ों से लेकर नेपाल के पहाड़ों तक फैला हुआ हिमालय हिम-माला का एक छः सौ मील का विस्तार था और इसके केन्द्र-स्थान पर ऊंचा सिर किये नन्दादेवी खड़ी थी। इसी विशाल विस्तार में बद्रीनाथ, केदारनाथ और इसके प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान हैं और इनके पास ही मान-सरोवर और कैलास भी हैं। कितना महान् दृश्य था वह!

इसकी दिव्यता से मंत्र-मुग्ध-सा होकर, मैं चकित-सा इसे एक-टक देख रहा था। मुझे यह सोचकर अपने ऊपर थोड़ा-सा गुस्सा भी आया कि अगर्चे मैं सारे हिन्दुस्तान का चक्कर लगा आया और बहुत-से दूर देशों की भी यात्रा की, फिर भी अपने ही प्रान्त के एक कोने में इकट्ठे इस सौंदर्य को भूला ही रहा। हिन्दुस्तान के कितने लोगों ने इसे देखा या इसके बारे में कुछ सुना भी है? न जाने ऐसे कितने हजारों लोग हैं, जो दिखावटी सजे हुए पहाड़ी मुकामों (Hill Station) पर हर साल नाच और जुए की तलाश में जाया करते हैं!

इस तरह दिन बीतने लगे और मेरे दिमाग में सन्तोष की मात्रा भी बढ़ने लगी; परन्तु साथ ही यह डर भी होने लगा कि मेरी यह थोड़े दिनों की छुट्टी भी अब जल्दी ही समाप्त हो जायगी। कभी-कभी पत्रों तथा समाचार-पत्रों का बड़ा-सा बंडल मेरे पास आ जाता और मैं उसे बेमन से खोलकर देख जाता। डाकघर दस मील दूर था। इसलिए मेरी इच्छा थी कि डाक वहीं पड़ी रहने दी जाय; लेकिन एक तो पुरानी पड़ी हुई आदत बड़ी तेज़ थी और फिर दूर जगह के किसी प्रिय की चिट्ठी पा जाने की सम्भावना भी मुझ से इन सिर पड़े अनिमंत्रित अतिथियों के लिए द्वार खुलवा देती थी।

यकायक एक बड़े ज़ोर का धक्का आया। हिटलर आस्ट्रिया पर चढ़ रहा था और मुझे वियना के आनन्द-दायक उपवनों को कुचल देने को तैयार जंगली पद-ध्वनियां सुनाई पड़ीं। क्या यह चिर-सम्भावित विश्व-विनाश के

आगमन के सूचनार्थ नान्दी-पाठ था? क्या यह महायुद्ध था? मैं 'खाली' को भूल गया और भूल गया पहाड़ों और बरफ की शिलाओं को! मेरा शरीर तन गया और दिमाग़ चंचल हो उठा। जब संसार सर्वनाश के मुख में था और बुराई की जीत हो रही थी, जिसका सामना करना और उसे रोकना मेरा फ़र्ज़ था, उस समय मैं यहां पर्वतों के इस दूर कोने में पड़ा-पड़ा क्या कर रहा था? लेकिन मैं कर ही क्या सकता था?

एक दूसरा धक्का और आया—इलाहाबाद में साम्प्रदायिक दंगे, जिनमें कई मार डाले गए और कई के सिर फूटे! थोड़े से आदमियों के जीने या मर जाने से अधिक कुछ नहीं बिगड़ता; परन्तु यह कैसा खिझानेवाला पागलपन और नीचता है, जिसने हमारे देश-वासियों को समय-समय पर पतन के गड्ढे में ढकेला है?

फिर तो मेरे लिए यहां 'खाली' में भी शान्ति नहीं थी, छुटकारा नहीं था। दिमाग को दुखी करनेवाले विचारों से मैं कैसे छुटकारा पा सकता था? अपने हृदय की धड़कन को छोड़कर मैं कैसे भाग सकता था? मैंने समझ लिया कि संसार के प्रमादों का सामना करना और इसके क्षोभ को सहना ही पड़ेगा, हालांकि चाहें तो कभी-कभी संसार से छुटकारे का सपना भी देख ले सकते हैं। क्या ऐसा सपना सपना देखनेवाले की एक कल्पित धारणा ही नहीं है, या इसके अलावा वह कुछ और भी है? क्या वह सपना कभी सच हो सकेगा?

मैं थोड़े दिन और 'खाली' में ठहरा रहा; किन्तु एक अस्पष्ट अशान्ति ने मेरे दिमाग को जकड़ रखा था। आदमी की शठता से अछूते, सुनसान और अज्ञेय उन सफ़ेद पहाड़ों को देखते-देखते मुझे फिर से शान्ति महसूस हुई। आदमी चाहे कुछ भी क्यों न करे, वे पहाड़ तो वहां रहेंगे ही। अगर वर्तमान जाति आत्म-हत्या कर ले, या और किसी धीमी प्रक्रिया से गायब हो जाय तो भी वसन्त आकर इन पहाड़ी प्रदेशों का आलिंगन करेगा ही, चीड़-वृक्षों के पत्तों में लड़खड़ाती हुई हवा भी बहा ही करेगी और पक्षियों का संगीत भी चलता ही रहेगा।

परन्तु उस समय तो अच्छी या बुरी कोई भी छुटकारे की राह न थी। आगे हो तो हो। कुछ हद तक सक्रियता में ही छुटकारा था। चाहे जैसी भी हो, 'खाली' दिमाग़ को राहत नहीं दे सकती थी और न दिल में विस्मृति भर देने की दवा ही दे सकती थी! सो वहां पहुंचने के ठीक सोलह दिन बाद मैंने 'खाली' से विदाई ली। विचार में खोकर मैंने उत्तर की सफ़ेद चोटियों को आखिरी बार बड़ी देर तक एकटक निहारा और उनके पावन रेखा-चित्र को अपने दिल पर अंकित कर लिया।

अप्रैल १९३८

: २ :

हिमालय की एक घटना

मेरी शादी १९१६ में, दिल्ली में, बसंतपंचमी को हुई थी। उस साल गरमी में हमने कुछ महीने काश्मीर में बिताये। मैंने अपने परिवार को तो श्रीनगर की घाटी में छोड़ दिया और अपने एक चचेरे भाई के साथ कई हफ्ते तक पहाड़ों में घूमता रहा तथा लद्दाख रोड तक चला गया।

संसार के उच्च प्रदेश में उन संकड़ी निर्जन घाटियों में, जो तिब्बत के मैदान की तरफ से जाती हैं, घूमने का यह मेरा पहला अनुभव था। जोज़ीला घाटी की चोटी से हमने देखा तो हमारी एक तरफ नीचे की ओर पहाड़ों की घनी हरियाली थी और दूसरी तरफ खाली कड़ी चट्टान। हम उस घाटी की संकड़ी तह के ऊपर चढ़ते चले गए, जिसके दोनों ओर पहाड़ हैं। एक तरफ बरफ़ से ढकी हुई चोटियाँ चमक रही थीं और उनमें से छोटे-छोटे ग्लेशियर (हिम-सरोवर) हमसे मिलने के लिए नीचे को रेंग रहे थे। हवा ठंडी और तीखी थी, लेकिन दिन में धूप अच्छी पड़ती थी और हवा इतनी साफ थी कि अक्सर हमें चीजों की दूरी के बारे में भ्रम हो जाता था। वे दरअसल जितनी दूर होती थीं, हम उन्हें उससे बहुत कम दूर समझते थे। धीरे-धीरे

सूनापन बढ़ता गया, पेड़ों और वनस्पतियों तक ने हमारा साथ छोड़ दिया, सिर्फ नंगी चट्टान, बरफ़, पाला और कभी-कभी कुछ सुन्दर फूल रह गए। फिर भी प्रकृति के इन जंगली और सुनसान निवासों में मुझे अजीब सन्तोष मिला। मेरे उत्साह का ठिकाना न रहा।

इस यात्रा में मुझे एक बड़ा दिल को कंपा देनेवाला अनुभव हुआ। जोज़ीला घाटी से आगे सफ़र करते हुए एक जगह, जो मेरे ख़याल में मातायन कहलाती थी, हमसे कहा गया कि अमरनाथ की गुफा यहां से सिर्फ आठ मील दूर है। यह ठीक था कि बीच में बुरी तरह बरफ से ढका हुआ एक बड़ा पहाड़ पड़ता था, जिसे पार करना था; लेकिन उससे क्या? आठ मील होते ही क्या है! जोश खूब था और तजुरबा नदारद! हमने अपने डेरे-तम्बू, जो ग्यारह हजार पांच सौ फ़ुट की ऊंचाई पर थे, छोड़ दिये और एक छोटे-से दल के साथ पहाड़ पर चढ़ने लगे। रास्ता दिखाने के लिए हमारे साथ यहां का एक गडरिया था।

हम लोगों ने रस्सियों के सहारे कई बर्फीली नदियों को पार किया। हमारी मुश्किलें बढ़ती गईं तथा सांस लेने में भी कठिनाई मालूम होने लगी। हमारे कुछ सामान उठाने वालों के मुंह से खून निकलने लगा, हालांकि उन पर बहुत बोझ नहीं था। इधर बर्फ पड़ने लगी और बर्फ़ीली नदियाँ भयानक रूप से रपटीली हो गईं। हम लोग बुरी तरह थक गए। एक-एक क़दम बढ़ने के लिए बहुत कोशिश करनी पड़ती थी; लेकिन फिर भी हम यह मूर्खता करते ही गए।

हमने अपना खीमा सुबह चार बजे छोड़ा था और बारह घंटे तक लगातार चढ़ते रहने के बाद एक विशाल हिमसरोवर देखने का पुरस्कार मिला। यह दृश्य बहुत ही सुन्दर था। उसके चारों ओर बरफ़ से ढकी हुई पर्वत-चोटियां थीं, मानों देवताओं का मुकुट अथवा अर्द्धचंद्र हो; परन्तु ताजा बरफ़ और कुहरे ने शीघ्र ही इस दृश्य को हमारी आंखों से ओझल कर दिया। पता नहीं कि हम कितनी ऊंचाई पर थे; लेकिन मेरा खयाल है कि हम लोग कोई पन्द्रह-सोलह हजार फुट की ऊंचाई पर जरूर होंगे, क्योंकि हम अमरनाथ की गुफा से बहुत ऊंचे थे। अब हमें इस हिमसरोवर को, जो सम्भवतः आध मील लम्बा होगा, पार करके दूसरी तरफ़ नीचे गुफा को जाना था। हम लोगों ने सोचा कि चढ़ाई खत्म होने से हमारी मुश्किलें भी खत्म हो गई होंगी, इसलिए बहुत थके होने पर भी हम लोगों ने हंसते हुए यात्रा की यह मंजिल भी तय करनी शुरू की। इसमें बड़ा धोखा था, क्योंकि वहां दरारें बहुत-सी थी और ताज़ी गिरनेवाली बरफ़ खतरनाक दरारों को ढक देती थी। इस ताजी बरफ़ ने ही मेरा करीब-करीब खात्मा कर दिया होता, क्योंकि मैंने ज्योंही उसके ऊपर पैर रक्खा, वह नीचे को खिसक गई और मैं धम्म से मुंह बाये एक विशाल दरार में जा गिरा। यह दरार बहुत बड़ी थी और कोई भी चीज़ उसमें बिलकुल नीचे पहुंचकर हजारों वर्ष बाद तक भूगर्भशास्त्रियों की खोज के लिए इत्मीनान के साथ सुरक्षित रह सकती थी; लेकिन मेरे हाथ से रस्सी नहीं छूटी और मैं दरार की बाजू को पकड़े रहा और ऊपर खींच लिया

गया। इस घटना से हम लोगों के होश तो ढीले हो गए थे, फिर भी हम लोग आगे चलते ही गए; लेकिन दरारों की तादाद और उनकी चौड़ाई आगे जाकर और भी बढ़ गई। इनमें से कुछ को पार करने के कोई साधन भी हमारे पास न थे, इसलिए अन्त में हम लोग थके-मांदे हताश हो लौट आए और इस प्रकार अमरनाथ की गुफ़ा अनदेखी रह गई।

: ३ :

बारिश में हवाई सफर

यों हिन्दुस्तान में मैं हवाई जहाज में काफी उड़ा हूं–उत्तर में भी और दक्षिण में भी–लेकिन बारिश में उड़ने का यह पहला ही तजुरबा था। एक नया ही सुन्दर दृश्य देखने में आया। मामूली तौर से देहात खुश्क और झुलसे हुए-से दिखाई देते हैं और जमीन को देखते-देखते आंखें थक जाती हैं; लेकिन बारिश में ऐसा नहीं होता। हम सब जानते हैं कि तपती जमीन पर मानसून आनन्ददायी मेंह बरसाता है और पानी पड़ जाने पर सूखी जमीन में से कैसी बढ़िया मंहक उठती है। मेंह के जादू का हाथ लगा कि जमीन पर चारों तरफ हरियाली-ही-हरियाली फैल जाती है। ऊंचाई से देखने पर यह तब्दीली और ज्यादा साफ दिखाई देती थी। हरेक चीज हरी-हरी, हालांकि उस हरियाली में और भी बहुत-से रंग थे और अक्सर पानी खेतों में भरा खड़ा दिखाई देता था। पेड़ भी खड़े दीखते थे, साफ़ और शीतल। बहुत-से छोटे-छोटे गांवों की, जो धरती पर धब्बे-जैसे दिखाई देते थे, भद्दी शकल बहुत-कुछ ढक जाती थी। आंखें बार-बार इस दृश्य पर रुकती थीं, इधर-उधर घूमती थीं और थकती नहीं थीं। हिन्दुस्तान एक हरा-भरा और सुन्दर देश

दिखाई पड़ता था और मालूम होता था कि वह सौंदर्य और भूमि-सम्पत्ति के खयाल से बड़ा धनी है।

हम ज्यादा ऊंचे नहीं उड़ते थे, आमतौर से कोई पांच-छः सौ फुट की ऊंचाई पर रहते थे। धरती तेजी से हमारे सामने से दौड़कर निकल जाती थी। हम से ऊपर बादल थे। बादलों के बीच अंधेरे में उड़ने से बचने के लिए हमें बादलों से नीचे हटना था और चूंकि हम निचाई पर उड़ रहे थे, इसलिए ज़मीन की चीजें हमें कुछ ज्यादा साफ़ दिखाई देती थीं। हमने देखा, मर्द और औरतें खेतों में काम कर रहे थे। ढोर मैदानों में मनमौजी ढंग से घूम रहे थे। उतनी ऊंचाई से धरती पर हम यह सब देख सकते थे और ऐसा लगता था मानों सब पास ही हो। कभी-कभी पहाड़ियां हमारे नज़दीक तक आ जाती थीं और हम बिल्कुल उनके ऊपर होकर आगे बढ़ जाते थे। फिर वे पीछे छूट जाती थीं। कभी-कभी हमारे ऊपर पानी बरसने लगता था और शीशे की खिड़कियों से टकराता था। मेंह की हम ज्यादा परवा नहीं करते थे और न असल में हवा के झोंकों की ही हमें फिकर थी, जो हमें उछाल देते थे। लेकिन जिस निचाई पर हम उड़ रहे थे, उस पर भी जब बादल और कुहरा हमें ढंकने लगा तो हमारा जहाज चलानेवाला कुछ परेशान हो उठा। बमरौली पहुंचे तब खूब ज़ोर से पानी पड़ रहा था और कुहरे ने हवाई अड्डे को ऐसा ढक लिया था कि उसे पहचानना भी मुश्किल था।

जमशेदपुर से बहुत तड़के चलकर दोपहर तक लखनऊ

पहुंचने की मेरी इच्छा थी; लेकिन बिजली और तूफ़ान की ख़बरें ज्यादा हिम्मत बढ़ानेवाली नहीं थीं और हमारे होशियार चालक का भी ख़तरा उठाने का मन नहीं था। जबतक अच्छे मौसम की खबरें न आएं, हमने चलना स्थगित कर दिया और नतीजा यह हुआ कि दोपहर होने से कुछ पहले हम चल सके। हमारा जहाज तेजी से उड़ने लगा। हवा पीछे की थी और वह हमें धक्का देकर आगे बढ़ा रही थी। नगर-गांव आते और पीछे छूट जाते थे। सोन और गंगा छूट गई और बनारस भी बहुत पीछे रह गया। अबतक हम अच्छी तरह से उड़ते रहे। हां, कभी-कभी झटके लगते थे। लेकिन ज्योंही हम इलाहाबाद के पास पहुंचे, काले और डरावने बादल हमारे नजदीक आते गए और साफ दिखाई देने लगा कि तूफ़ान आनेवाला है। इन्हीं बादलों में होकर हमारे दाएं से एक शाही जहाज निकला और शान से उड़ता हुआ आगे बढ़ गया। वह जहाज़ काफ़ी बड़ा था और तूफ़ान में होकर आगे बढ़ सकता था; लेकिन हमारा छोटा-सा जहाज तो थपेड़े खाने लगा।

हमारे चालक ने तय किया कि उसे सावधानी रखनी चाहिए और जहाज को बनारस लौटा लाया। वहां हम फौजी हवाई अड्डे पर उतरे। कुछ देर ठहरे, तबतक जहाज़ में पेट्रोल भर लिया गया। हमने फिर जोखिम लेने का विचार किया; लेकिन वहाँ जहाज़ के दौड़ने के लिए काफी रास्ता ही नहीं था और हमारे जहाज़ में बोझ भी ज्यादा था। इसलिए बनारस में मैंने अपना असबाब छोड़ा और उपाध्याय को भी,

जो मेरे साथ ही सफ़र कर रहे थे, विदाई दी। यों हल्के होकर हम आसानी से उड़े और इलाहाबाद की तरफ़ चले। जब हम इलाहाबाद के पास पहुंचे तो नीचे बादलों ने हमें ढक लिया और मेंह पड़ने की वजह से जो कुछ दीख पड़ता था, वह और भी कम दीख पड़ने लगा। हमने गंगा को पार किया और मेरी आंखों ने आनन्द-भवन, स्वराज्य-भवन और वैसी ही और बहुत-सी इमारतों का अंदाज लगाया। अल्फ्रेड पार्क भी ऊपर से बेहद खूबसूरत मालूम होता था, शायद बारिश की वजह से। हम सीधे हाईकोर्ट पर होकर गुजरे और निचाई पर जहाज़ के उड़ने के कारण कचहरी के लोगों की भीड़-की-भीड़ बरांडे में खड़ी मुझे दिखाई दी। लोग इस छोटे-से जहाज़ को निचाई पर उड़ते हुए देख रहे थे।

ठीक आधा घंटे में बनारस से बमरौली पहुंच गए। जहाज़ से उस दिन और आगे बढ़ने की ज्यादा सभावना नहीं थी, इसलिए वहां तक हमें लानेवाले अपने चालक और छोटे-से जहाज से हमने विदा ली और अफ़सोस के साथ लखनऊ तक का सफ़र धीमी चलनेवाली रेलगाड़ी से ही तय करने का इरादा किया।

बड़े हवाई जहाज अक्सर ऊंचाई पर उड़ा करते हैं। के. एल. एम. मुझे समुद्र की सतह से अठारह हज़ार फुट ऊंचा ले गया और बर्फ से ढके आल्प्स पर होकर गुज़रा। फिलस्तीन में भी हम मृतसागर पर इतनी ऊंचाई पर उड़े कि कुहरा हमारी खिड़की के शीशों पर जमने लगा। एक बार इम्पीरियल

कम्पनी के जहाज़ में सिन्ध के रेगिस्तानों मे उड़ते हुए मुझे एक अजीब तजुरबा हुआ। लम्बा सफ़र करने का मेरा यह पहला ही मौका था। सुबह का समय था और दिन की रोशनी धीरे-धीरे जमीन पर फैलती जा रही थी। अपने बहुत नीचे मैंने खूबसूरत बरफ़ का मैदान देखा। अपने चारों तरफ़, जहा तक मैं देख सकता था, वह मैदान-ही-मैदान दिखाई देता था, बरफ़ का चमकता हुआ एकसा ढेर। अचरज से मैंने अपनी आंखें मलीं और फिर उसे देखा, लेकिन बात सही थी। सिन्ध में बरफ़! ऐसा सोचना भी वाहियात बात थी। तो क्या वह रुई और ऊन थी, जिसके ढेर जमीन पर बिखरे पड़े थे? यह भी वैसा ही पागलों का-सा ख़याल था। हम ऊंचाई पर उड़ रहे थे और हमारे ऊपर साफ़ और नीला आसमान था। हमारे नीचे भी हज़ारों फुट तक बादल नहीं थे। नीचे वही सफेद चमकता हुआ ढेर था, जो जमीन को ढके हुए दीख रहा था। जब हम कोई पांच हजार फुट की निचाई पर आए और बादलों के बीच पड़ गए तो सारा भेद खुल गया। बादलों में से हम निकले और उनके नीचे उड़ने लगे तो देखा कि अब भी हम ज़मीन से कोई दस हजार फुट की ऊंचाई पर उड़ रहे थे!

ऊंचाई पर उड़ने से आदमी का जमीन से कोई सम्बन्ध नही रहता। जमीन हमसे दूर मालूम पड़ती है और कुछ ही चीज़ें साफ़ दिखाई देती हैं। बड़ी नदी सफ़ेद लकीर-सी दीख पड़ती है और पहाड़ भी, जबतक कि वह बहुत ऊंचा न हो, नीची जमीन से नहीं पहचाना जाता। मोटर या रेल में

चीजें दौड़ती दिखाई देती हैं और रफ्तार का अन्दाज रहता है। जहाज़ में रफ्तार का ज़रा भी अन्दाज़ नहीं रहता। लेकिन अगर जहाज नीचा उड़ता है तो ज़मीन दौड़ती हुई सपाटे से आती और पीछे छूटती दिखाई देती है।

अगस्त १९३९

: ४ :

बंबई में मानसून

बंबई मुझे पसन्द है। वहां खुली जगह है। समुद्र है और ठंडी हवाएं हैं, जो समुद्र से उठकर गर्मी को कम कर देती हैं। वहां का बन्दरगाह बहुत-सी रोशनियों से जगमगाने लगता है और बैंक बे, हालांकि अब उसकी उतनी उग्रता नहीं रही है और न उसका वह शानदार घुमाव ही रह गया है, अब भी आकर्षक दिखाई पड़ती है। रात के समय रोशनियों की लम्बी कतारें देखने में बड़ी सुन्दर लगती हैं। नई-नई इमारतोंकी तरफ, जो वहां तेजी से बनती जा रही हैं, मेरा ध्यान खासतौर से नहीं जाता, फिर भी दूर से इन शुष्क इमारतों का दृश्य काफ़ी अच्छा लगता है।

बंबई में मेरे नजदीक के दोस्त हैं। उनकी वजह से मुझे वह नगरी पसन्द है और इसीलिए बंबई जाने की मुझे हमेशा चाह रहती है; लेकिन एक बरस पहले मेरा एक प्यारा दोस्त वहां गुजर गया, तब से बंबई का रस मेरे लिये कुछ कम हो गया है और मुझे वहां दुःख फैला हुआ दिखाई देता है। लेकिन बंबई को जितना मैं पसन्द करता हूं, उतना ही कुछ दिन वहां रह कर उससे उकता भी जाता हूं और वहां से दूर चला जाना चाहता हूं। उत्तर की सर्दी और गर्मी

का मैं आदी हूं, ठंडी हवा सह लेता हूं और तपती लू भी। इसलिए यह सर्दी-गर्मी के बीच का मौसम जिसमें बहुत कम तब्दीली होती है, मुझे बडा सुस्त मालूम होता है। वह इतना मोतदिल होता है कि मेरा बदलता स्वभाव उससे मेल नहीं खा पाता।

बंबई में बहुत बार गया हूं, लेकिन कभी भी मैंने वहां मानसून आते हुए नहीं देखा। मुझसे कहा गया था और मैंने पढ़ा भी था कि मौसम में पहले-पहल मेंह का आना बंबई की एक खास घटना होती है। शान के साथ मेंह बरसता है और अपनी उदार देन से वह शहर को चकित कर देता है। हम सब जानते हैं कि मानसून के दिनों में हिन्दुस्तान के बहुत से हिस्सों में खूब पानी पडता है, लेकिन लोगों ने कहा कि बंबई में कुछ और ही होता है। पानी भरे बादल जब अकस्मात पहली बार धरती को छूते हैं तो उनमें बड़ी तेजी होती है। खुश्क जमीन पर मूसलाधार पानी पडता है और धरती समुद्र जैसी दीखने लगता है। तब बंबई जड नहीं रहती, वह गतिशील हो उठती है और उसमें परि-वर्त्तन भी होने लगते हैं।

इसलिए मैंने मानसून के आने की राह देखी। बैठा-बैठा मैं आसमान की ओर देखा करता कि मानसून के अग्र-दूत मुझे वहां दिखाई दें। थोड़ी-सी बौछारें आईं। ओह, यह तो कुछ भी नहीं है। मुझसे कहा गया था कि मानसून तो अभी आने वाला है। ज़ोर का पानी पडा; लेकिन मैंने उसकी तरफ़ ध्यान नहीं दिया और किसी असाधारण घटना के घटने की राह देखता

रहा। जब मै राह देख रहा था, मुझे बहुत से लोगों से मालूम हुआ कि मानसून आगया है और फैल भी गया है। कहां थे उसके ठाट-बाट! कहा था उसका बनाव-ठनाव! और कहां थी उसकी शान-बान ?कहाँ था बादलों और धरती के बीच का सघर्ष ? और कहाँ था लहल्हाता और थपेड़े मारता हुआ समुद्र ? रातमें चोर की तरह मानसून बंबई में आया, जैसे कि इलाहाबाद या किसी दूसरी जगह में आ सकता था। मेरा एक और भ्रम दूर हुआ।

जून १९३९

: ५ :

चीन-यात्रा के संस्मरण

तीसरे पहर सवा तीन बजे मे हवाई जहाज से कुनमिंग को रवाना हुआ। हिन्दुस्तानियों और चीनियों की भीड़ ने मुझे हार्दिक बिदाई दी। जिस जहाज से मैं सफर कर रहा था, वह यूरेशिया कम्पनी का था। यह चीनी-जर्मन कारपोरेशन है। जहाज जर्मनी का बना हुआ था और उसका चालक भी जर्मन था। एयरफ्रांस जहाज से वह बहुत छोटा था, उसमें दस मुसाफिरों के लिए जगह थी। जगह की कमी की वजह से हम बड़े घिरे-से महसूस करते थे।

ज्यों-ही हम चीन के करीब पहुंचे मेरे अन्दर खुशी की एक लहर उठी। प्राकृतिक दृश्य भी बड़े खूबसूरत थे। पीछे पहाड़ थे और एक नदी उनमें से निकलकर चक्कर खाती हुई घाटी में बह रही थी। जंगल से लदी पहाड़ियां ऊपर छाई हुई थीं। कहीं-कहीं हरे-हरे खेत और छोटे-छोटे गांव थे। नदी करीब-करीब लाल दिखाई देती थी और पहाड़ियों के खुले हिस्से भी गहरे लाल थे। शायद इसी रंग की वजह से हैनोय की नदी 'लाल नदी' कहलाती है।

जब हम पहाड़ों के पास पहुंचे तो बहुत ऊंचाई पर उड़ने लगे और कोई चार हजार फुट पहाड़ों के ऊपर पहुंच गए।

प्राकृतिक दृश्यों को ऊपर से देखने में धरती से देखने की बनिस्बत बहुत फर्क पड़ जाता है। नीचे से देखने में जो बहुत खूबसूरत दिखाई देता है ऊपर से उतना नहीं दिखाई देता; लेकिन जो दृश्य मैंने देखा, वह बहुत सुन्दर था और तरह-तरह के पहाड़ों की जुदा-जुदा शक्लों की वजह से नीरसता नहीं आने पाती थी। एक गहरी नीली झील, जिसके चारों तरफ हरे और लाल पत्थर थे, बड़ी खूबसूरत दिखाई देती थी। उसके बाद ही दूर एक और झील दिखाई दी; लेकिन तभी जहाज का नौकर आया और सब पर्दे गिराकर हमें आगाह कर गया कि हम पर्दे न उठाएं। शायद मैं सोचता हूं कि ऐसा लड़ाई के कारण सावधानी की दृष्टि से किया गया होगा। इस तरह मुसाफिरों को 'पर्दानशीन' कर दियागया। हां, जर्मन चालक सारा दृश्य देख सकता था।

कुनमिंग आ रहा था और हमें ऐसा लगा कि जहाज उतर रहा है। फौरन ही जहाज के धरती पर उतरने से हमें हल्का-सा धक्का लगा और हम चीन देश में खड़े थे।

कुनमिंग (यूनान फू)

क्योमिंतांग के एक प्रतिनिधि, मि. योंग कोंता, जो कि लेजिस्लेटिव य्वॉन के सदस्य भी हैं, चुंगकिंग से मेरा स्वागत करने के लिए आये थे। कुनमिंग के मेयर भी वहां थे। मुझसे कहा गया कि एक रात मुझे शहर में बितानी होगी और चुंगकिंग दूसरे दिन जा सकूंगा। मैं एक होटल में ले जाया गया।

चीन मेरे लिए एक नया मुल्क था—कथा-कहानी,

इतिहास और मौजूदा जमाने के बहादुरी के कामोंवाला अद्‌भुत देश ! और मैं तो हर बात के लिए तैयार था। लेकिन जब मैं होटल में पहुंचा तो मुझे कुछ अचरज हुआ। जितने होटल मैंने देखे थे, उन सबसे वह एकदम निराला था। उसका दरवाजा, खूबसूरत चौक और उसका बाहरी रूप आकर्षक और खास चीनी ढंग का था। लेकिन होटल के बारे में मेरी जो कल्पना थी उससे वह जरा भी नहीं मिलता था। मैंने उसके अनुसार ही अपने को बनाया और निश्चय किया कि चीनी ढंग ऐसा ही होता होगा। जो कमरा मुझे दिया गया था, वह कुछ छोटा था, लेकिन साफ और आराम-देह था। गरम और ठंडे पानी का इंतजाम भी उसमें था। होटल का यह भेद बाद में खुला, जब मुझे बताया गया कि वह पहले मन्दिर था, पर बाद में उसे होटल बना लिया गया। मुसाफिरों के ठहरने के कमरे पादरियों या पुजारियों के लिए रहे होंगे। ऐसा दिखाई देता था, हालांकि इसमें शक नहीं कि बाद में इन्हें फिर से बनाया गया था और उसमें सामान भी जुदा दिया गया था। फिर भी पुजारी उनमें अच्छी तरह से रहते होंगे। मेरा ध्यान हिन्दुस्तान के झगड़ों की तरफ गया जो मंदिरों और मस्जिदों को लेकर बराबर चलते रहते हैं; लेकिन चीनियों ने मंदिरों को होटल बनाने में कोई रोक-थाम नहीं की और मुझे बताया गया कि बहुत-से मन्दिर स्कूल बना लिए गये हैं !

होटल का मैनेजर फ्रांसीसी था। उसने हमको बढ़िया फ्रांसीसी खाना खिलाया और पीने के लिए ईविअन पानी

दिया। उसके पास अच्छी फ्रेंच शराबें भी थीं। वैसे लड़ाई के दिनों में चीन में आसानी से रहा जा सकता है, लेकिन कुनमिंग नमूने का चीनी शहर नहीं था। वह सरहद के करीब है, इसलिए विदेशी लोग और विदेशी माल आते रहते हैं। होटल का सारा वायुमंडल फ्रांसीसी था। होटल के नौकर चीनी बच्चे तक फ्रेंच बोलते थे।

हिंदी-चीन में और यहां मुझे अपनी बहुत दिनों की भूली हुई फ्रेंच का जंग छुड़ाना पड़ा; क्योंकि कुछ आदमियों से बातचित करने का कोई दूसरा जरिया ही नही था। हिन्दुस्तानियों से फ्रेंच में बात करना मुझे अजीब मालूम होता है। फिर भी वह उतना अजीब नहीं है जितना हिन्दुस्तानियों का आपस में अंग्रेजी में बातचीत करना।

मोटर से शहर में चक्कर लगाने और पैदल घूमने के लिए मैं निकला। पुराना शहर था, जिसकी तीन या चार लाख की आबादी थी। लेकिन लड़ाई की वजह से हाल ही में आबादी बढ़ गई थी; क्योंकि चीन से बाहर जाने के रास्ते में से कुनमिंग भी एक है। मुझे पता चला कि कुनमिंग और यूनान फू एक ही जगहें हैं। आज शाम तक मैं सोचे बैठा था कि वे दो जुदा-जुदा शहर होंगे! यूनान फू पुराना नाम है, कुनमिंग नया और बिना किसी फर्क के दोनों नाम इस्तैमाल किये जाते हैं।

एक चीनी दोस्त के साथ मैं शहर में घूमा और इस कोशिश में रहा कि चीन के वायुमंडल का अंदाज करूं और लड़ाई के निशानात पाऊं। सिपाहियों की यहां-वहां बिखरी

टुकड़ियों के अलावा लड़ाई के कोई निशान न थ। कुनमिग पर गोलाबारी नहीं हुई थी। सड़कों में गोल पत्थर लगे थे और वहां रोशनी ज्यादा नहीं थी। दुकानों पर रोशनी खूब थी और वे आकर्षक थीं। खाने की चीजें, कपड़े और दूसरी चीजें बहुतायत से थी। लेकिन फिर भी शान-शौकत की चीजों की कमी थी। सड़कों पर लोगों की भीड़ थी और रिक्शे चल रहे थे। अखबार बेचनेवाले लड़के अपने-अपने अखबारों के नाम और खबरें जोर-जोर से चिल्लाकर बता रहे थे। निश्चय ही शहर का रूप बिगड़ रहा था और वहां तड़क-भड़क नहीं दिखाई देती थी; लेकिन लोग खुश और बेफिक्र दिखाई देते थे। किताबों की बहुत-सी दुकानें थीं। फल बहुतायत से दिखाई पड़ते थे। अनार मैंने बहुत ज्यादा देखे। सड़क पर बहुत सेधुनिये अपनी-अपनी धुनकी लिये मेरे पास से गुजरे। शायद दिन का काम खत्म करके जा रहे थे। एक जगह पर धुनिये काम कर रहे थे और एक औरत बैठी थी। एक बड़े-से चर्खे से वह सूत को दोहरा कर रही थी। छोटे-छोटे मोटे-ताजे बच्चे खुश होकर इधर-उधर खेल रहे थे और कुछ छोटे-छोट लड़के और लड़कियां हमारे पास होकर गुजरे। उन्हें कोई फिक्र नही थी और वे हंस रहे थे।

आमतौर से फैले भद्देपन की वजह शायद यह थी कि सब कपड़ों के रंग एकसे थे। करीब-करीब सभी मर्द, औरतें और बच्चे एक गहरे-नीले या काले रंग की कमीज या गाउन पहनते थ। चीनी पोशाक मुझे अच्छी लगती है। अगर वह अच्छी तरह से तैयार की जाय तो बड़ी खूबसूरत और

शानदार लगती है और काम करने के खयाल से भी वह अच्छी है। उस पोशाक में खासकर लड़कों और लड़कियों दोनों के लिए एक कमीज और पाजामा होते हैं। कमीज, जो लम्बी होती है या छोटी, शरीर में चुस्त होती है। बड़ी लड़कियां अक्सर एक लंबी गाउन पहनती हैं जो नीचे पैर तक पहुंचती है, लेकिन एक तरफ को घुटने तक कटी होती है। यह लम्बी गाउन बड़ी खूबसूरत होती है; लेकिन काम के खयाल से ज्यादा अच्छी नहीं होती।

चीनी कुली और मजदूर सभी धूप के कारण घास या बांस के बने टोपी लगाते हैं। हैनोय में मैंने देखा कि हरेक औरत और मर्द मजदूर टोपी की तरह एक मुड़ी टोकरी इस्तेमाल करता है। धूप से बचने की यह सस्ती, अच्छी और हल्की टोपी है। कभी-कभी उसका किनारा इतना बड़ा होता है कि मेंह में भी छाते की तरह काम आता है। मेरे खयाल से हमारे हिन्दुस्तानी किसानों में भी इसी तरह धूप के टोप बनाने और पहनने का शौक पैदा करना चाहिए। इससे उनको बड़ी मदद मिलेगी। मुझे यकीन है कि बांस या सरकंडे के बने धूप के टोप उड़ीसा और मलाबार में पहने भी जाते हैं।

एक भोज में मैं प्रो. तिन तुआन सेन, खानों के विशेषज्ञ मि. के. टी. ह्वांग और चीन के डाक-विभाग के डाइरेक्टर जनरल, मि. सिन सुंग से मिला। उनसे बहुत दिलचस्प बातें हुईं।

चुंगकिंग का मेरे लिए जो कार्यक्रम रखा गया है, मुझे

दिखा दिया गया है। वह बहुत बड़ा है; लेकिन है दिलचस्प। कल दोपहर में चुगकिंग पहुंचूंगा और वहां शायद एक हफ्ते ठहरूं।

मैं इस बात को नहीं भूल पाता कि कल सुबह में कलकत्ते में था। उसके बाद से बर्मा, स्याम और हिंद-चीन से गुजरा हूं और अब मैं चीन में हूं। इन जल्दी-जल्दी होनेवाले परिवर्त्तनों के अनुकूल होना बड़ा मुश्किल है। मौजूदा परिस्थितियों से हमारे दिमाग कितने पिछड़े हुए हैं! हम बीते दिनों की बात सोचे जाते हैं और आज की जो नियामतें हैं उनका फायदा उठाने से इन्कार कर देते हैं। ऐसी दशा में दुनिया में इतनी लड़ाई और मुसीबत हो तो अचरज क्या है?

२३ अगस्त, १९३९

कुनमिंग की आबहवा बड़ी सुहावनी और ठंडी थी और हनोय की गर्मी से वह तब्दीली बड़ी अच्छी जान पड़ी। रात को खूब सर्दी थी। उसकी वजह शायद यह थी कि पास ही एक झील थी। यह मुझे सुबह मालूम हुआ। वह झील मेरे कमरे की खिड़की के ठीक पीछे तक आती थी। हमारे होटल का नाम 'ग्रांड होटल ड्यू लैक' था।

बड़े तड़के सहन में से एक तीखी आवाज आती हुई मैंने सुनी। वह आवाज फ्रेंच व्यवस्थापिका की थी, जो सफाई और धुलाई की देख-भाल करती हुई तेजी और गुस्से स फ्रेंच भाषा में चीनी लड़कों को डांट-फटकार रही थी। और आवाजें भी आ रही थीं जैसे अखबार बेचने वाले लड़कों की।

कलेवे के बाद हम झील पर घूमने गए। जवान सैनिकों की पार्टियां गाती हुई जा रही थीं। इन सैनिकों या नव-सैनिकों में से कुछ तो लड़के ही मालूम होते थे। पन्द्रह वर्ष की उम्र से ज्यादा के नहीं, लेकिन विदेशी को चीनियों की उम्र का अन्दाज लगाना मुश्किल है।

दस बजे से बहुत पहले हम हवाई अड्डे पर पहुंच गए। वहां पर कोलाहल-सा मचा हुआ था। प्रांतीय सरकार के कोई सदस्य भी उसी जहाज से सफर कर रहे थे और कर्म-चारियों को विदाई देनेवालों की भीड़ इकट्ठी थी। यूरेशिया कारपोरेशन के जहाज में हम सवा दस बजे रवाना हुए। जहाज भरा हुआ था और उसमें जगह कम ही थी। सब पर्दे डाल दिये गए थे। कुछ मिनट के बाद हमें बाहर देखने की इजाजत मिली। जाहिरा तौर पर वह तो हवाई अड्डा ही था और उसमें जो कुछ था वह जनता के देखने के लिए नहीं था।

उड़ने के दरमियान ही बे-तार से यह खबर हमें मिली कि केन्द्रीय क्योमितांग के प्रधान मंत्री, डा० चू चिआ ह्वा दूसरी बहुत-सी संस्थाओं के प्रतिनिधियों के, जिनमें चुगकिंग के मेयर भी शामिल हैं, नेता की हैसियत से हवाई-अड्डे से हमारा अभिनन्दन और स्वागत करते हैं।

चुंगकिंग

चुगकिंग पहुंचने में हमें तीन घंटे से कुछ ज्यादा लगे। रास्ते भर पहाड़-ही-पहाड़ थे और जब हम चुंगकिंग के पास पहुंचे तो पहाड़ों और चट्टानी किनारों के बीच यांग्त्सी नदी

चक्कर लगाती हुई दिखाई दी। धरती की सतह जरा भी दिखाई नहीं देती थी। मुझे अचरज हुआ कि उस ऊंचे-नीचे मल्क में हवाई अड्डा किस तरह बनाया गया होगा। इसका जवाब बड़ा दिलचस्प था और मेरे लिए तो वह अनोखा। जहाज नदी के बीचों-बीच सूखी जमीन पर उतरा। बहुत-से बड़े-बड़े लोग वहां जमा हुए थे। फौज के कुछ बड़े अफसर और डा० चू, जिन्होंने बे-तार की खबर भेजी थी, उनके प्रमुख थे। ज्योंही मैं जहाज से उतरा, 'वन्देमातरम्' की परिचित और मधुर ध्वनि ने मेरा अभिनन्दन किया। अचरज से जब मैंने ऊपर देखा तो वर्दी में एक हिन्दुस्तानी को पाया। वह हमारे कांग्रेस मेडीकल यूनिट के धीरेश मुखर्जी थे।

स्वागत में एक छोटा-सा भाषण हुआ और फूलों के गुलदस्ते भेंट किये गए। उसके बाद हम वर्दी में खड़ी लड़कियों और लड़कों की कतार के पास होकर गुजरे। उन्होंने एक आवाज से झंडे हिलाकर हमारा अभिवादन किया। बाद में नदी पार करने के लिए हम एक नाव पर जा बैठे

नदी के दूसरे किनारे पर बहुत-सी सीढ़ियां हमारे सामने दिखाई दीं और मुझसे एक पालकी में (जिसे 'चो से' कहते थे) बैठने के लिए कहा गया। सोचा गया था कि उसमें मुझे ऊपर ले जाया जाये। इस तरह ऊपर ले जाये जाने के विचार पर मुझे हंसी आई और फुर्ती के साथ मैंने सीढ़ियों पर चढ़ना शुरू कर दिया; लेकिन फौरन ही मुझे मालूम हुआ कि ऊपर चढ़ना आसान काम नहीं है। कोई ३१५ बड़ी

सीढ़ियां थीं। मै हांफने लगा और थक भी चला। औरों पर मैंने अपनी ताकत का रोब गालिब तो किया; लेकिन मैंने महसूस किया कि ऐसे हिम्मत के खेल कर सकूं, इतना जवान अब मैं नहीं रहा हूं। यहां से हमने विदेशी आफिस के महमान-घर जाने के लिए, जहां मेरे ठहरने का इंतजाम किया गया था, मोटर गाड़ी ली। वहां फिर हमें कोई सौ सीढ़ियां चढ़नी पड़ीं। चुगकिंग पहाड़ पर फैला हुआ बसा है। कुछ पहाड़ों के बीच में है, कुछ ऊपर चोटी पर और सपाट रास्ता तो बहुत ही थोड़ा है।

बहुत-से बड़े अफसर और दूसरे लोग मुझसे मिलने आए और मैंने चुगकिंग का एक हफ्ते का कार्यक्रम, जो मेरे लिए बनाया गया था, देखा। सबसे पहले उस शाम को चार बजे एक सभा थी, जिसमें १९३ संस्थाएं मेरा स्वागत करने को थीं। इस सभा में हम गए। एक बुजुर्ग राजनेता श्री वू चि-हुई ने अभिनन्दन करते हुए कुछ शब्द कहे, जिनका मैंने जवाब दिया। उसके बाद सनयात सेन की तस्वीर के सामने राष्ट्रीय नारे लगाये गए और वंदना की गई। बाजे चीनी राष्ट्र-गीत बजा रहे थे। यह सारा दृश्य बडा प्रभावशाली था।

इसी सभा में मुझे मालूम हुआ कि जहां कहीं प्रधान सेनापति का नाम आता है, वहीं उनकी इज्जत के लिए सारे लोगों को उठकर खड़ा होना पड़ता है। इस बार-बार खड़े होने से सभा में बाधा पड़ती है। इसलिए उसे रोकने के लिए मुनासिब यह है कि उनको नेता या और किसी

नाम से पुकार लिया जाया करे, नाम उनका न लिया जाये।

सभा के बाद फौरन ही मुझे भोज में पहुंच जाना था, जिसका इंतजाम बहुत-सी संस्थाओं की तरफ से किया गया था। लेकिन तभी गुप्त रूप से खबर मिली कि बमबारी की उम्मीद की जा रही है। इसलिए खाने का मामला ही खत्म हो गया। जल्दी से हम अपने घरकी तरफ लौटे। हमने देखा कि सड़क पहले ही से आदमियों से भरी हुई है और सब एक तरफ को जा रहे हैं। सरकार की ओर से खतरे का संकेत अभी नहीं दिया गया था; लेकिन खबर दे दी गई थी और मर्द-औरतें अपने बचाव के लिए सुरंगों की तरफ तेजी से जा रहे थे। चुगकिंग को एक सहूलियत है। दुश्मनों के जहाजों के आने की खबर जल्दी ही, एक घंटे से भी पहले, मिल जाती है।

उसके बाद फौरन ही खतरे का भोंपू बजा और मुझसे कहा गया कि मैं किसी सुरंग में चला जाऊं। यह बात मैंने बहुत नापसंद की; लेकिन अपने मेजबानों से इन्कार भी तो नहीं कर सकता था। हम लोग मोटर में बैठकर एक खास सुरंग में गए जो विदेशी मंत्री के घर से मिली हुई थी। सड़कों पर बड़ा जोशीला दृश्य दिखाई दे रहा था। लोग भाग कर या तेजी से चल कर सब-के-सब बमबारी से बचानेवाली जुदा-जुदा सुरंगों की ओर जा रहे थे। कुछेक के साथ छोटे-मोटे बंडल या बक्स थे। माताएं अपने बच्चों को छाती से लगाये हुए थीं और छोटे-छोटे कुटुम्ब साथ-साथ जा रहे थे। लारियां आदमी भर-भरकर ले जा रही थीं। किसी तरह की घबराहट वहां दिखाई नहीं देती थी। वह तो लोगों का रोज-

मर्रा का काम था और वे उसके आदी हो गये थे ।

हम विदेश-मंत्री की सुरंग में पहुंचे। देखा कि उनके दोस्त जमा होते जा रहे थे। ज्योंही दूसरी मर्तबा खतरे का संकेत दिया गया तो हम १५×१० की एक छोटी मगर ठंडी जगह के भीतर चले गये। उसमें लोहे के दरवाजे लगे हुए थे। हमें बताया गया कि हमारे ऊपर पच्चीस फुट मजबूत पथरी थी। यहां पर हम बैठ गये या खड़े रहे; क्योंकि भीड़ बढ़ती गई और कोई पचास आदमी अंदर आ गये थे। रोशनी बुझा दी गई। कभी-कभी बिजली की टार्च की रोशनी की जाती थी।

वहां पर बहुत-से दिलचस्प आदमी थे। सरकारी अफसर, उनकी बीवियां, सेनापति, प्रोफेसर और अखबारनवीस सभी थे। मगर मेरा मन कहीं और न होता तो वक्त बड़ी अच्छी तरह से कट जाता। वैसे वहां गर्मी भी थी और जगह भी तग थी। चुगकिंग में जितनी गर्मी मैं समझता था, उससे कहीं ज्यादा निकली। सुरंग के अंदर तो थोड़ी ठंडक थी, लेकिन वहां दम-सा घुटा जाता था। जब खास सुरंगों का यह हाल था तो मुझे अचरज था कि उन ग्राम-सुरंगों का क्या हाल होगा जिनमें हजारों लोगों की भीड़-की-भीड़ भरी होगी?

बाहर से आनेवाली आवाज को मैं गौर से सुनता रहा। उससे मैं कुछ समझ न सका, लेकिन लोगों के आदी कानों ने पहचान लिया कि बम गिरने की आवाज है, यह पीछा करनेवाले चीनी जहाजों की भनभनाहट है और यह दुश्मनों के बम बरसानेवाले जहाजों का शब्द है।

हम वहां इंतजार में बैठे रहे । कभी-कभी बाहर झांक लेते थे । बाहर चांदनी फैली हुई थी । कितनी शांत ! कितनी शीतल ! और अष्टमी का चांद चैन से चमक रहा था ! हत्याकांड और जोर की बरबादी हो रही थी । कुछ कारणो से बमबारी को रोकनेवाली तोपें नहीं चलाई जा रही थीं और सर्चलाइट में भी रोशनी नहीं थी । उस सुरंग के हमारे पड़ौसी सोचते थे कि विरोधी जहाजों में घमासान लड़ाई चल रही है ।

वक्त काटने के लिए हमने अंतरराष्ट्रीय हालत की हाल की पेचीदगी, रूस और जर्मनी की प्रस्तावित अनाक्रमण संधि व इंगलैंड, फ्रांस और जापान पर उसका असर, इन सब पर चर्चा की । इस संधि से बहुत से चीनी खुश थे, क्योंकि इसे वह जापान के अकेला रह जाने की निशानी समझते थे ।

उस सुरंग के अंधेरे में हम दो घंटे तक बैठे रहे । सब एकदम खामोश और इकट्ठे बैठे थे और मुझे बताया गया कि हवाई हमला प्राय: तीन-चार घंटे तक चलता है । परिवर्त्तन के विचार से यह तजरबा मुझे अच्छा नहीं लगा; लेकिन अपने मन में यह साफतौर से जानता था कि लगातार घंटों यों ही बंद पड़े रहने की बनिस्बत मैं चन्द्रमा की ताजी और ठंडी रोशनी में जाने का खतरा उठाना ज्यादा पसन्द करूंगा । मुझे यह अधिक रुचिकर होगा कि आदमी से चूहा बनकर बिल में बैठ जाने की बनिस्बत लड़ाई के मोर्चे पर जाऊं या ऊपर आसमान में किसी पीछा करनेवाले जहाज में चक्कर लगाऊं ।

दो घंटे बीते और खबर मिली कि जापानी जहाज लौटे जा रहे हैं। सत्ताईस जहाज आये थे जिसमें से अठारह पहले ही हैंको की तरफ जाते देखे गये थे। बाकी नौ भी चले गये। रोशनी हुई और फौरन ही वहां पर शोर-गुल और जोश दिखाई देने लगा। वे सब लोग जो इतनी आत्मीयता से दो घंटे तक पास-पास बैठे थे, बिना किसी तकल्लुफ या दुआ-सलाम के जुदा हो गये और अपने-अपने घरों की तरफ तेजी से चले गये।

ज्यों-ज्यों आदमी अपनी छिपने की जगहों से बाहर आने लगे, सड़कें फिर भरने लगीं। जिस चाल से लोग गये थे, उससे कहीं धीमे लौट रहे थे। लौटते हुए हमें लोगों के बहुत से गिरोह मिले। वे कुदाली और बेलचा लिये उन जगहों की तरफ जा रहे थे, जहां पर बमबारी की वजह से नुक्सान पहुचा था। वे उसे ठीक करने जा रहे थे, दूसरे लोग अपने-अपने काम पर। चुगंकिंग में फिर मामूली तौर से कारोबार चलता दिखाई देने लगा। कुछ लोग शायद ऐसे थे कि जिनका काम खत्म हो गया था और अपने मुर्दा और झुलसे शरीर से और आधुनिक सभ्यता की प्रगति और महानता का प्रदर्शन कर रहे थे।

हमें अबतक ठीक मालूम नहीं कि उस हमले में क्या हुआ? जाहिरा तौर पर खास शहर तो बच गया; लेकिन उसके सरहदों पर, खासकर एक गांव पर, जो छोटा-सा औद्योगिक केन्द्र था, बम-वर्षा हुई।

पिछली रात का हवाई हमला, जहां तक जापानियों का

ताल्लुक था, योंही गया। मालूम होता है कि चीन के पीछा करनेवाले जहाजों ने उन्हें शहर से बाहर ही रोक दिया था और कुछ मामूली-सी लड़ाई हुई। सर्च-लाइट से कुछ जापानी जहाज पहचान लिये गये। इसलिए जापानी जहाज शहर के बाहर खेतों पर ही जल्दी-जल्दी बम डालकर चले गये। एक झोंपड़ी बरबाद हो गई और दो आदमियों के मामूली चोट आई। कहा जाता है कि पीछा करनेवाले जहाजों में से चलाई गई मशीनगनों के गोले कई एक जापानी जहाजों में आकर लगे। जापानी जहाजों का कितना नुक्सान हुआ, इसका तो पता नहीं। लेकिन ऐसा खयाल किया जाता है, या उम्मीद की जाती है कि उन जहाजों में से कुछ को लौटने म मजबूरन जगह-जगह उतरना पड़ा होगा।

अगले कुछ दिनों में जबतक चांदनी रात रहेगी, शायद कुछ हवाई हमले और हों। भविष्य में चांदनी रात का ताल्लुक और-और चीजों के साथ हवाई हमलों से भी समझा जाना चाहिए।

आज सुबह मुझे पता चला कि प्रधान सेनापति ने पिछली रात के हमले में मेरी हिफाजत के बारे म अपनी चिन्ता प्रकट की थी। उन्होंने खबर दी कि मुझे उनकी खास सुरंग में भेज दिया जाय, लेकिन खबर के आने से पहले ही मैं तो विदेशी मंत्री के यहां चला गया था।

बहुत से लोगों—मंत्रियों और सेनापतियों—ने मुझे सुजनतापूर्ण निमंत्रण दिया है कि जब कभी मौका आये, मैं उनकी सुरंग इस्तेमाल करूं। मेरा अन्दाज है कि बमबारी के

इस जमाने में यह शिष्टाचार और मित्रभाव की हद है !

सुबह का वक्त मैंने मिलने-मिलाने में बिताया। पहले मैं कोमितांग के प्रधान कार्यालय में गया, जहां पर मुझे प्रधान मंत्री डा० चू चिआ ह्वा मिले। कोमितांग का विधान और संगठन मुझे समझाने लगे। यह विधान तो बड़ा पेचीदा है और वह कैसे बना और किस तरह उसका संचालन होता है इस बारे में मुझे बहुत ही धुधला खयाल रहा। फिर भी मैं इतना तो समझ गया कि कोमितांग कोई ज्यादा जनतंत्रीय संस्था नही है, चाहे वह कहलाती जनतंत्रीय ही है। उस दिन, बाद में मैंने कुछ मंत्रियों से शासन की रूपरेखा को समझने की कोशिश की। वह तो और भी पेचीदा है और कोमितांग और सरकार के बीच का सम्वन्ध बड़ा अजीब है। शायद आपसी बातें उनके मजबूत सम्बन्ध को कायम किये हुए हैं। मैंने कुछ ऐसी कितावें और कागजात मांगे हैं, जिनसे सरकार और कोमितांग का ढांचा समझ सकूं।

उसके बाद मैं विदेशी-मंत्री डा० बैग से मिलने गया, जिनका वे-बुलाया मेहमान मैं पिछली रात सुरंग के भीतर रहा था। बहुत देर तक हम दिलचस्प बातें करते रहे।

मेरी तीसरी मुलाकात डा० हॉलिटन के० तांग के साथ हुई, जिनके सुपुर्द प्रकाशन का काम है। उनका और उनके काम का मुझ पर अच्छा असर पड़ा।

नदी-किनारे के एक रेस्ट्रां (भोजनालय) में नाश्ते का इंतजाम वडे पैमाने पर किया गया था और वह तकल्लुफाना भी था। वह शहर के कारपोरेशन, कोमितांग और नगर-

रक्षक-सेना के कमांडर की तरफ से दिया गया था। ऐसे तकल्लुफाना जल्से—भले ही मेजबान लोग उनमें काफी घरेलूपन ला देते हों—बड़े परेशान करते है। नुमायशी तकरीरें हुई जिनका जवाब मैंने गिने-चुने बेजान शब्दों में दिया और फिर उनका तरजुमा हुआ है। मेरे वहां पहुंचने और वहां से चलने पर फौजी बाजे बजने लगते है और सलामी का तो कोई ठिकाना ही नहीं! मुझे डर है कि मेरी बेतकल्लुफ आदतें इस सबसे मेल नहीं खातीं।

लेकिन सबसे बड़ी आफत तो खाना है, जो चलता ही रहता है, अन्त जिसका दीखता ही नहीं। और ठीक उसी वक्त जब मै सोचता हूं कि चलो, खत्म हुआ, तभी मेज पर आधी दर्जन रकाबियां और आ धमकती हैं। चीनी खाना या उसकी कुछ चीजें मुझे पसन्द है। उनमे कला होती है। लेकिन खाना मेरी समझ में नहीं आता। मालूम होता है कि मजेदार रकाबियों की बहुत-सी किस्में हैं, जो एक के बाद एक चली आती हैं। खानेवाले थोड़ा-थोड़ा करके उन्हें खाते हैं और तरह-तरह के उम्दा स्वादों का आनन्द लेते जाते हैं। खाने का तरीका मैं पसन्द नहीं करता। मेरा मतलब चॉप स्टिकों से नहीं है जिन्हें होशियारी और लियाकत के साथ इस्तैमाल करना होता है। काश कि मैं उनको इस्तैमाल करने में कुशल होता! सारी रकाबियां बीच में रख दी जाती हैं और हरेक मेहमान बीच में खड़ी हुई रसभरी रकाबियों में से ही लजीज चीजें उठाता जाता है और लाजिमी तौर से रसभरे कुछ टुकड़े मेजपोश पर गिरते जाते है।

तीसरे पहर मेरी एक बड़ी मजेदार मुलाकात मशहूर आठवीं सेना (Eighth Route Army) के जनरल ये चियन-यिंग के साथ हुई। आना वोंग उनके साथ थीं, जो मेरी बोली का तरजमा करती जाती थीं। आना वोंग जर्मन (आर्य) हैं। पर शादी उनकी चीन में हुई है और तन-मनसे वह चीन निवासिनी हैं। जापानी बमों से वह बाल-बाल बच चुकी हैं।

जनरल ये ने आठवीं सेना के बारे में बातें कीं और बताया कि अपनी फौजी कार्रवाइयों के अलावा और क्या-क्या काम वह कर रही है। अपने दृष्टिकोण से उन्होंने चीन की मौजूदा हालत भी समझाई।

उसके बाद मैं प्रधान मंत्री या ठीक-ठीक कहूं तो एक्जीक्यूटिव युअन के अध्यक्ष डा० कुंग से मिलने गया। वहां से हम एक बड़ी चायपार्टी में गये, जो मेरा स्वागत करने के लिए खास-खास आदमियों की तरफ से दी जा रही थी। पार्टी बड़ी मजेदार रही और बहुत-से मंत्रियों, उपमंत्रियों, भूतपूर्व मंत्रियों और सेनापतियों तक से मेरा मिलना हुआ। चीनी जलसेना-नायक ने तो मुझे हैरत में डाल दिया। मैंने चीनी जहाजी बेड़े के बारे में पूछा तो उन्होंने कहा कि फिलहाल तो जहाजी बेड़े में सिर्फ थोड़ी-सी तोपवाली नावें हैं। लेकिन कुछ भी हो, जहाजी बेड़े का बाजा तो था ही, जो उस पार्टी में अच्छी तरह से बजाया जा रहा था।

इस पार्टी में मैं जिन लोगों से मिला उनमें सिकिआंग से आये हुए एक प्रतिनिधि भी थे। वह मेरे संबंध में फारसी में बोले। मुझे बड़ा अचरज हुआ। मेरे स्वागत में उन्होंने जो

कुछ कहा, उसके बस एक-दो शब्द मैं समझ सका और उस राजसी भाषा में बातचीत जारी रखने की अपनी अयोग्यता पर मुझे अफसोस हुआ।

बहुत-से विदेशी पत्रकार खास तौर से अमरीकन और रूसी पत्रकार, वहाँ मौजूद थे।

चीनियों के नाम तो एक आफत हैं, खासकर तब जब कि खासी तादाद से मेरा साबका पड़ता है। बहुत से नाम तो करीब-करीब एक-से ही सुनाई दिये। मेरा अंदाज है कि इसी कठिनाई की वजह से चीनी लोगो की विजिटिंग कार्डों से मुहब्बत बढ़ी। ज्योंही आप किसी चीनी से मिलेंगे, फौरन ही वह अपना कार्ड निकालकर पेश कर देगा। मेरे पास बीसियों ऐसे कार्ड अभी से ही जमा हो गये हैं। हिन्दुस्तान मे कार्डों का आदी न होने की वजह से मेरे पास अपने कार्ड ज्यादा नहीं हैं; पुराने जरूर मेरे पास पड़े है। लेकिन वे कब तक चलेंगे?

बहुत-से मंत्रियों और दूसरे लोगों के साथ जिनमें, जनरल चैन चैंग भी शामिल थे, भोज हुआ। हम दोनों की एक जबान न होते हुए भी जनरल चैन चैंग को मैं बहुत पसन्द करता हूं। वह बेतकल्लुफाना भोज था और हमारी बातचीतें बड़ी मजेदार हुईं। चीनी मुझे बहुत अद्भुत और बढ़े-चढ़े लोग जान पड़े। उनसे बात करने में मजा आता है, बशर्ते कि जबान की मुश्किल बीच में न आ जाये।

रात को कोई हवाई हमला नहीं हुआ।

२४ अगस्त, १९३९

: ६ :

रेल में छुट्टी

अधिकतर लोग रेल से लम्बी यात्रा करने स डरते हैं और वे भाग्यशाली लोग भी, जो पहले दर्जे या समान तापमान-वाले (Air conditioned) डब्बो में सफ़र करते है, अनेक कष्टों का दुख के साथ वर्णन करते पाए जाते हैं। उनके लिए दूसरे दर्जे में यात्रा करने की संभावना भी बड़े कष्ट की बात है, फिर ड्योढ़ा अथवा तीसरा दर्जा तो उनके लिए खौफ़ की कोठरी है, जो दोजखी लोगों के दुःखों से या उन गरीबो से भरी हुई है जो अबतक उनसे दूर थे और जिनका मस्तिष्क और शरीर सिर्फ मानव-श्रेणी के ऊपर के दर्जे के लोगों के लिए सुरक्षित सौंदर्य की अनुभूति करने की योग्यता या क्षमता नही रखता। यह सच है कि इस देश में समान-तापमानवाले और तीसरे दर्जे के डब्बों मे महान अन्तर है। वे दो अलग-अलग दुनियाओं के द्योतक हैं। वे मानव-संसार के विभिन्न दर्जों के बीच चौडी खाई हैं। यह भी सच है कि भारत में तीसरे दर्जे के यात्रियों के साथ, जिनके कारण रेल-विभाग को बहुत बड़ी आय होती है, जो व्यवहार किया जाता ह वह बड़ा अपमानजनक और बदनामी का कारण बना हुआ ह।

भारतीय रेल गाड़ियों के समान तापमानवाल डब्बों में सफ़र करने का मुझे कोई अनुभव नहीं है। यह दूसरी बहुत-सी चीजों की तरह से मेरी पहुंच से बाहर की चीज है। मैं तो सिर्फ बाहर से ही उन आरामदेह डब्बों में झांक ही सकता हूं। पहले दर्जे की यात्रा भी मेरे लिए भूतकाल की धुधली याद रह गई है, क्योंकि बहुत समय से मैंने उसमें सफ़र नही किया है। मैं तो तीसरे, ड्योढ़े या कभी-कभी दूसरे दर्जे में सफ़र किया करता हूं।

अक्सर मेरे बहुत से दोस्त, जो आराम की जिन्दगी बसर करने के आदी हैं, मेरे नीचे के दर्जों में यात्रा करने पर घबराते हैं और कल्पना करते हैं कि मुझे जाने कितनी तकलीफ होती होगी। उन लोगोंकी चिन्ता बेकार है; क्योंकि यह लम्बी यात्राएं मेरे लिए बड़ी लाभदायक हैं और मुझे इनसे आराम मिलता है। हालांकि मैं शरीर से बहुत मोटा-तगड़ा नहीं हू, फिर भी मैं मजबूत हूं और बिना किसी तकलीफ़ के, अगर ज्यादा भीड़-भाड़ न हो तो, तीसरे दर्जे मे मजे में जा सकता हूं। मैं सोता हूं, आराम लेता हूं, पढ़ता भी हूं और कुछ समय के लिए रोजाना का काम और लोगों से मिलना-जुलना भूल जाता हूं। सौभाग्य से जब भी सोना चाहूं सो लेता हूं। म कभी अनिद्रा रोग का शिकार नहीं हुआ। मुझे नींद के लिए कभी परेशान नहीं होना पड़ा। मैं तो उस ओर से उदासीन रहता हूं। अपने आप नींद आकर मुझे अपने कब्जे में ले लेती है। इसीलिए मैं लम्बी यात्राओं की प्रतीक्षा में रहता हूं।

दो दिन हुए, पांच दिन तक व्यस्त रहने के बाद मैंने बम्बई छोड़ी। मैं थक गया था और खूब आराम करना और सोना चाहता था। मुझे लखनऊ आना था। एक धीमी रेल, जो पूरे दो रात और एक दिन यानी ३६ घंटों में पहुंचती थी मैंने पसन्द की। इस लम्बी यात्रा के विचार से और इस बात से कि कोई काम न रहेगा, न मुलाकातों का झगड़ा ही होगा और जितनी देर तक चाहूं सोता रहूं और किताबें पढता रहूं, मै बहुत खुश हुआ। इस आराम का पूरा आनन्द लेने की गरज से मैंने दूसरे दर्जे में सफ़र करना मुनासिब समझा।

रात के साढ़े दस बजे गाड़ी विक्टोरिया टर्मिनस से चली। मैं अपनी सीट पर बिछे बिस्तर पर लेट गया और सोना चाहने लगा; किन्तु पुरानी आदत ने मुझे एक पुस्तक उठाने को लाचार कर दिया। स्टीफ़न ज्विग की 'लैटर फ्राम एन अननोन वूमन' पुस्तक मैंने खोल ली। पुस्तक की कोमल और प्रभावोत्पादक कथा ने, जो सुन्दर गद्य में लिखी हुई थी, मझे आधी रात तक जगाए रखा। उसके बाद दस घंटे तक लगातार सोता रहा। दूसरे दिन भी कुछ करने को नहीं था और मेरा मन उतने समय के लिए चिन्ताओं से मुक्त था और निश्चित समय पर उठने की लाचारी न होने से दिल में कोई परेशानी न थी।

मैंने हजामत बनाई, कपड़े बदले और आराम से चन्द किताबें लेकर बैठ गया। सबसे पहले मैंने डब्लू बी. करी की 'दी केस फौर फैडरल यूनियन' पुस्तक उठाली और उसके

एक-दो अध्याय पढ़ डाले। पुस्तक दिलचस्प थी और सामयिक भी; किन्तु मैं कुछ हल्का साहित्य पढ़ना चाहता था। इसलिए मैंने उसे रख दिया। लेकिन मुझे लगा कि यह पुस्तक स्ट्रीट की 'यूनियन नाउ, की बनिस्बत जिसमें भारत, चीन तथा सोवियत यूनियन को छोड़कर एक संघीय यूनियन बनाने पर विचार किया गया है, क़ाफी अच्छी थी।

उसके बाद डी० एन० प्रिट की 'लाइट आन मास्को' उठा ली, जो धारावाहिक रूप से कुछ समय पूर्व 'हेराल्ड' में प्रकाशित हो चुकी थी। उसी समय मैंने उसके कुछ अंश पढ़े थे। मैं उसे पूरा पढ़ना चाहता था और वह पढ़ने योग्य निकली भी। याद कम रह पाता है और जब हम युद्ध के प्रचार में फंस जाय तो यह भूलजाना स्वाभाविक है कि किन कारणों से यूरोप में युद्ध छिडा, वे कारण जो ब्रिटिश नीति पर प्रकाश डालते है तथा श्री चेम्बरलेन की सरकार की असलियत जाहिर करते हैं। यही सरकार युद्ध चला रही है, इसी सरकार के साथ हमे भारत के सम्बन्ध मे भुगतना होगा। इसलिए हमें यह समझ लेना चाहिए कि गत कई पीढ़ियों से ऐसी प्रतिगामी सरकार ब्रिटेन में नही बनी थी। इस सरकार ने यूरोप और दूसरे स्थानों पर प्रजातन्त्र को कुचल कर फासिस्टवाद को प्रोत्साहन दिया है। अगर ब्रिटेन की जनता इसी सरकार को स्वीकार किये रहे और हम लोग जनता को भी उसी रूप में देखें तो इसमें हमारा क्या अपराध है? अगर हमें उसके कार्यों के पीछे, युद्ध से पहले और शुरू होने के बाद, साम्राज्यवाद ही दिखाई दे तो इसमें हमारा क्या दोष है?

उसके बाद दूसरी किताब उठाली। एच० जी० वैल्स के पुराने निबन्धों का संग्रह–'ड्रेवल्स आव ए रिपब्लिकन रैडिकल इन सर्च आव हौट वाटर'। यह पुस्तक भी वैल्स की अन्य कृतियों के समान दिलचस्प और विचारों को उभाड़नेवाली है; किन्तु फिर भी इसमें आज की वास्तविकता का स्पर्श नहीं है।

इसके बाद एक दूसरी पुस्तक मैंने ले ली। जार्ग बुचनर का प्रसिद्ध नाटक 'दांटेस टोड' या 'दांतेज डेथ', जो अंग्रेजी में अनूदित था। सौ साल से भी अधिक पहले यह पुस्तक लिखी गई थी और उसके साथ मैं भी फ्रांस की क्रांति के दिल हिला देनेवाले दिनों में पहुंच गया। मेरा दिमाग उस क्रांति से आगे-पीछे हटकर आज हम हिन्दवासी जहां खड़े हैं वहां दौड़ गया। अपनी प्रेमिका को लिखे बुचनर के शब्द जैसे मेरे सामने खड़े हो गए। क्रांति के पीछे छिपे प्राकृतिक और ऐतिहासिक कारणों से वह कितना प्रभावित था! "मैं क्रांति के इतिहास का अध्ययन कर रहा हूं। मुझे लगता है, मानों इतिहास के भयावह भाग्यवाद ने मुझे मिटा दिया है। मनुष्य की प्रकृति में एक भयानक समानता है, मानव-सम्बन्धों में एक जरूरी हिंसा है, जिसका सब व्यवहार करते हैं और कोई भी नहीं करता। व्यक्ति तो जल के बुदबुदे के समान है, महानता केवल एक संयोग है और प्रतिभा–सम्पन्नता एक कठपुतली का खेल है, लौह नियम के विरुद्ध एक हास्यास्पद संघर्ष है। वास्तव में उच्च आदर्श कौन-सा है, जो प्राप्त हो सकता है, यह समझना असम्भव है।...'अनिवार्यता' उन अभिशापों में से है, जो घुटी के साथ

पिलाये जाते हैं। यह कहावत कि अपराध तो होते ही हैं, लेकिन अपराध करनेवाला अभागा है, बड़ी भयानक है। हमारे अन्दर वह क्या है, जो झूठ बोलता है, हत्या करता है और चोरी करता है।"

क्या यह ठीक है ? क्या हम लोग भाग्य की कठपुतलियां हैं, पानी के ऊपर के बुदबुदे हैं ? एक सदी बीत गई, जब बुचनर ने यह लिखा था:— महान मानवीय सफलताओं और मनुष्यों की प्राकृतिक नियमों पर विजय की सदी। और फिर भी वह उन वासनाओं को, जो उसे खाजाती हैं, या उन प्राकृतिक प्रेरणाओं को, जो उसे व्यक्ति या समूह के रूप में संचालित करती हैं, बस में नहीं कर सका और हम एक के बाद दूसरी दुर्घटना में फंसते जा रहे हैं। इस तरह के अनेक दांते-जैसे दु:खी व्यक्तियों की बदनसीबी यह है कि वे इतिहास की प्रक्रियाओं के साथ कदम-से-कदम मिलाकर नहीं चल सकते। उनको कोई काम करने को नहीं रहता और न वे भाग्य के विधायक ही रह जाते हैं। क्योंकि उनका समय चूक जाता है। इसलिए वे कुछ कर ही नहीं सकते। वे तो शिकायत ही कर सकते और अपने भाग्य को रो सकते हैं। कमजोरी उनको ग्रस लेती है साथ ही यह चेतना भी, कि अन्त उनका नजदीक है।

फ्रांस की क्रांति से हटकर हम फिर लौटते हैं बीसवीं सदी पर, जिससे हम गुजर चुके हैं उस बीती कल पर, हिन्दुस्तान में हमारे लिए सफलता से पूर्ण और यूरोप के लिए मूर्खता से भरी बीसी पर, आगे आनेवाले संकट की बढ़ती हुई चेतना और भय की तीसी पर, और अब फिर

गहरे गड्ढे की ओर हमारे कदम बढ़ रहे हैं ! मैंने दूसरी किताब उठाली और उसमें उस आकर्षक ज़माने का हाल पढ़ा, जिसे हमने अपनी आँखों से देखा है और जिसका हम पर इतना गहरा असर पड़ा है। यह किताब थी पाद्री फान पैसन की आत्मकथा—'डेज़ आव आवर ईयर्स।'

और इस तरह दिन बीत गया और झांसी आ गई। कुछ थोड़ा और पढ़कर फिर सो गया। सवेरा होते ही लखनऊ आ गया और वह छोटी छुट्टी ख़त्म हुई।

फरवरी १९४०

: ७ :

गढ़वाल में पांच दिन

मेरी बहिन विजयालक्ष्मी और मैंने हाल ही में पांच दिन गढ़वाल में व्यतीय किये हैं। इन कई वर्षों में मैंने हिन्दुस्तान का काफी भ्रमण किया है और युक्तप्रान्त के तो हरएक जिले में मैं अनेक बार हो आया हूं, किन्तु गढ़वाल ही एक ऐसा जिला रह गया था, जहां मैं नहीं गया था। हां, करीब डेढ़ साल का अर्सा हुआ होगा जबकि मैं कुछ घंटों के लिए डुगड्डे अवश्य हो आया था। पर्वतमालाएं तो वैसे ही सदा मेरे आकर्षक की वस्तु रही हैं, इसलिए मैं इस कमी को पूरा करने के लिए उत्सुक था। आने-जाने के लिए उपयुक्त मार्ग न होने के कारण अधिक लम्बे असें की जरूरत थी, इसी कारण मुझे कुछ संकोच था; किन्तु गढ़वाली मित्रों के आग्रह से अपनी इसी कमी के ज्ञान ने मुझे इस बात के लिए तैयार कर दिया कि मैं इस कमी को पूरा कर दू और इन पर्वतमालाओं के लिए भी चन्द दिन निकाल ही लूं। बहन विजयालक्ष्मी और राजा हठीसिंह तथा गढ़वाल के साथी मिल जाने से तो मुझे और भी प्रसन्नता थी।

यह यात्रा यद्यपि बड़ी कठिन थी, तथापि मनोरम भी थी। हम थके-मांदे लौटे; किन्तु फिर भी हमारे मस्तिष्क

मधुर स्मृतियों से परिपूर्ण थे। हमने गोचर, देवप्रयाग, श्रीनगर, पौडी तथा मार्ग में पड़नेवाले अनेक रमणीक स्थानों को देखा। हमने अपना मार्ग हवाई जहाज़ से, मोटर से, घोड़े की पीठ पर और पैदल तय किया। गाड़ी की सड़क न होने के कारण यहाँ आने-जाने का मुख्य साधन घोड़ा ही है। हवाई जहाज़ से हम बद्रीनाथ और केदारनाथ तक गए और इन प्राचीन तीर्थ-स्थानों को घेरने वाले उच्च हिमाच्छादित शिखरों के भव्य दृश्य देखे। हम वहां उतर न सके, और हमें गोचर तक आना पड़ा। यहां हमारा वायुयान उतरा। पर्वतीय जनता यहां हमारा स्वागत करने के लिए प्रतीक्षा कर रही थी। फिर हम पांच घंटे की आकाश-मार्ग से यात्रा कर वापिस लौटे। पैदल चलकर इस यात्रा को पूरा करने में हमें पांच सप्ताह लग जाते। आकाश-मार्ग से गढ़देश के नंगे पर्वतों, असंख्य घाटियों और उनके मध्य कलकल करती नदियों को कल्लोल करते देखा। हम गंगा के जन्मस्थान में थे। मैदान में जो गंगा अत्यन्त विशालकाय और गम्भीर दिखाई देती है यहां उसीकी चपल किशोरावस्था की कमनीय झांकी के दर्शन थे। हमने कलकल शब्द पर हर्षातिरेक से खिलखिलाते बालक-जैसी गगा की धवल-धारा को देखा।

आकाश-मार्ग तय कर हमने सड़क पकड़ी और ऋषिकेश से देवप्रयाग तक गंगा के किनारे-किनारे गए, जहां कि भागीरथी अलकनन्दा से मिलती है और मिलने के बाद अन्य नामों को छोड़कर गंगा नाम धारण कर लेती है। यही वह नदी है,

जिसने हजारों वर्षों से हिन्दुस्तान के हृदय को जीत रक्खा है। दोनों नदियों के संगम के उस पार तट पर देवप्रयाग के नीचे नदी की धारा बहती है। देखने से ऐसा मालूम होता है मानों कि देवप्रयाग प्रेमपूर्ण नेत्रों से नदी के प्रवाह की ओर देख रहा है और उसका आलिंगन करना ही चाहता है।

अलकनन्दा के किनारे-किनारे हम घोड़े पर रवाना हुए। हमारे साथ-ही-साथ बद्रीनाथ जानेवाले संन्यासी और यात्री धीरे-धीरे पैदल चल रहे थे। उनका विश्वास ही उनकी यात्रा के थकान को दूर कर उन्हें सांत्वना देता है। घोड़े का मार्ग ठीक था। कहीं-कहीं यह बहुत टेढ़ा हो जाता था और कही इतना सीधा कि ज़रा भी पैर फिसलने से आदमी सैकड़ों फुट नीचे बहने वाली नदी में गिर सकता था। अन्य यात्रियों की करतलध्वनि और फूलों की वर्षा इस अवसर पर इतनी सुहावनी नहीं मालूम पड़ती थी जितनी कि साधारणतया हुआ करती है; क्योंकि इससे हमारे घोड़े चौक जाते थे।

सूर्य गर्म था और छाया कम थी, इसलिए मार्ग कष्टप्रद होता जाता था। सारे रास्ते एक प्रकार के जंगली बेला के फूल खिले थे, जिनकी सुगन्ध हमारे मस्तिष्क में एक आनन्द का स्रोत उत्पन्न कर देती थी। जंगली नागफनी के पेड़ भी रास्ते में काफी थे। जंगलों का पता नहीं था और पहाड़ एकदम नंगे थे। सीढ़ियों के आकार के पेड़ भी बंजर ही से नजर आते थे।

हम एक मनोरम तथा विस्तृत घाटी मे स्थित श्रीनगर में पहुंचे। अलकनन्दा इसके पास ही बड़ी मन्द गति से बहती

है। नदी में लकड़ी के टुकड़े ऊपर से बहाकर लाये जाते हैं। श्रीनगर गढ़वाल की पुरानी शान से, जबकि यह गढ़वाली राज्य की राजधानी था, वंचित एक छोटा-सा नगर है। यहां हम दो दिन ठहरे। राजनैतिक सम्मेलन में भाग लिया और अपने बहुत से पुराने सहयोगियों से मिले। इसके बाद पर्वत के शिखर पर स्थित पौड़ी की ओर रवाना हुए। यहां से बद्रीनाथ, केदारनाथ, चौखम्भा, त्रिशूल और नन्दादेवी के उच्च हिमाच्छादित शिखर दिखाई देते हैं। सारे रास्ते हम ग्रामीण स्त्री-पुरुषों और बच्चों से मिले, जो प्रेमपूर्वक हमारा स्वागत करने के लिए आए थे।

पौड़ी का कार्यक्रम भी काफी था। एक रात वहां रहकर थके-मादे घोड़ों पर सवार हो रास्ते में ठहरते और सभाओं मे भाषण देते हुए देवप्रयाग लौट आए। देवप्रयाग से हरिद्वार और फिर रेलगाड़ी पकड़ी।

गढ़वाल एक दरिद्र प्रांत है और वह एक प्रकार देश से कटा हुआ-सा ही है। यह बड़ी अजीब बात है कि जहां हम शेष संसार के इतने निकट हैं वहां उससे हम एकदम कितने कटे हुए भी हैं। जैसे हजारों वर्ष पूर्व बीस मील की यात्रा एक दिन की बात थी, वैसे ही आज भी बनी हुई है। गत वर्षों में आने-जाने के साधनों में काफी तब्दीलियां हुई हैं; किन्तु फिर भी यहां की यात्रा घोड़े पर या पैदल ही की जा सकती है। आधुनिक संसार के आविष्कारों और वैज्ञानिक चमत्कारों का पता यहां केवल तार के खम्भों से ही चलता था। इस विशाल जिले में सड़क का न होना एक बड़ी

आश्चर्य की बात है। गत महायुद्ध के समय गढ़वाल निवासियों को आश्वासन दिया गया था कि वहां रेल बना दी जायेगी। इतना ही नहीं, कई लाख रुपया व्यय कर इसके लिए नाप-तोल भी की गई। किन्तु न तो रेल ही बनी और न सड़क ही तैयार हुई। यदि गढ़वाल मे कोई रैजिमैन्ट रक्खी हुई होती या ब्रिटिश अधिकारियों की काफी बस्ती होती तो सड़क कभी की बन गई होती। अधिकारी गढ़वाल में रहना पसन्द नहीं करते हैं और एक प्रकार से उसे निर्वासन ही-सा समझते हैं। उच्च अधिकारी भी निरीक्षण के लिए यहां बहुत कम आते हैं। इतना होने पर भी यदि ब्रिटिश सरकार को कोई खास एतराज न होता तो यह सड़क अवश्य बन गई होती। मेरा विचार है कि सरकार को जो एतराज है वह इसी आधार पर है कि वह गढ़वाल पर राजनैतिक हलचलों का तनिक भी प्रभाव नही पड़ने देना चाहती, क्योंकि वह यहां से सेना के लिए रंगरूट भर्ती करती है। गढ़वाली सेनाएं काफी प्रसिद्ध हैं, किन्तु मुझे यह जान कर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि इस जिले के हजारों व्यक्ति बंगाल की सशस्त्र पुलिस में नौकर हैं। वे अत्यन्त गरीब हैं और मौजूदा हालत में यह जिला उनका भरण-पोषण नहीं कर सकता। औद्योगिक धंधे तो नहीं के बराबर हैं, इसलिए उनका दूसरी जगहों में नौकरी तलाश करना जरूरी है।

हम बहुत-से स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों से मिले और मैंने उनसे कई सवाल किये। मुझे पता चला कि उनमें से ९० फीसदी से भी ज्यादा बच्चे ऐसे थे, जिन्होंने मोटर और

रेलगाड़ी तो क्या, गाड़ी भी कभी नहीं देखी थी। हमारे जाने से कुछ दिन पहले उन्होंने एक हवाई जहाज देखा था।

गढ़वाल में शीघ्र एक सड़क अवश्य बन जानी चाहिए। बिना सड़क के वह उन्नति नहीं कर सकता। केवल सड़क ही काफी नहीं है वरन् जनता की उत्पादन शक्ति में भी सुधार करने की अत्यधिक आवश्यकता है। सड़क की माँग के अलावा मुख्य शिकायतें पानी की कमी, भारी टैक्स, डाक्टरी सहायता और स्कूलों की कमी हैं। यदि एक आदमी सख्त बीमार पड़ जाता है तो यह भी सम्भव नहीं है कि उसे समीप के अस्पताल तक ले जाया जा सके। वह मर जाता है या यदि भाग्यवान हुआ तो बच जाता है। शिक्षा की जोरदार मांग है, किन्तु स्कूल कम हैं और जो हैं वह काफ़ी फासले पर हैं।

खेतों क लिए पानी की कमी होना बड़े ताज्जुब की बात मालूम पड़ी; क्योंकि यहाँ नदियाँ और झरने काफी तादाद में हैं। दरियाओं की घाटियों के खेत सूखे दिखाई दिये। हमने सीढ़ी के आकार वाले अनेक खेत देखे, जो कि कठिन परिश्रम के पश्चात् पर्वत की शिलाओं को काट कर बनाये गए हैं। यह खेत बेकार ही बिना जुताई के पड़े थे, क्योंकि उनका जोतना उपयोगी नहीं समझा गया। जंगलों की कमी और जमीन के आम तौर पर बंजर होने के कारण पानी का अभाव और भी अधिक खलता है। मेरी समझ में नहीं आया कि जब कमायूं में इतने अधिक जंगल हैं तो गढ़वाल में इतने कम क्यों हैं? जमीन तथा अन्य वातावरण भी उतना

ही अच्छा है जितना कमायूं का । क्या यह मनुष्य की गलती है---किसानों की मूढ़ता है या अयोग्यता या सरकार की लापरवाही ?

इस गरीबी और बंजरपन के बीच भी हमें यह प्रतीत हुआ कि गढ़वाल में अनेक शक्तिशाली साधन छिपे पड़े हैं। जल-शक्ति जहां-तहाँ बरबाद हो रही है। इससे बिजली पैदा करके लाभ उठाया जा सकता है और इससे खेत तथा उद्योग-धंधों को भी जीवन मिल सकता है। शायद यहाँ बहुत-से खनिज पदार्थ भी है, जिन्हें खोजने की आवश्यकता है।

गढ़वाल में सड़कें बननी चाहिए, किन्तु साथ ही यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि यहां के खनिज पदार्थों और शक्ति-शाली साधनों की जांच हो। इससे केवल गढ़वाल को ही बिजली नहीं मिलेगी; बल्कि प्रांत के अन्य भागों को भी पहुंचाई जा सकती है। इस प्रकार से गढ़वाल के लिए विशेषज्ञों की दो कमेटियों की शीघ्र ही नियुक्ति होनी चाहिए। एक कमेटी खनिज पदार्थों की खोज करे और दूसरी पानी के उपयोग की तरकीब निकाले और हाइड्रोइलेक्ट्रिक योजना तैयार करे।

जबतक ये योजनाएं पूरी हों तबतक यह संभव है कि दरियाओं का पानी खेतों तक पहुंचाने के लिए पम्प बना दिये जायं।

उद्योग-धंधों के विकास के लिए भी गढ़वाल में काफी मौका है। इन धंधों में ऊन की कताई और बुनाई मुख्य धंधे हो सकते हैं। इनका विकास भी सुगमता से किया जा सकता है। कमायूं में

इन धंधों को विकसित करने में काफ़ी सफलता मिल सकती है। मुझे तो कोई वजह ऐसी नहीं मालूम पड़ती कि वहां उतनी सफलता नहीं मिलेगी।

गढ़वाल में मधु-मक्खी पालना भी साधारण बात है; किन्तु जो तरीके इसके लिए काम में आते हैं वे पुराने हैं और उनमें सुधार की आवश्यकता है।

साथ ही मैं यह भी कहूंगा कि मुझे गढ़वालियों में उत्साह की कमी दिखाई पड़ी। ऐसा मालूम होता है कि निराश होकर उन्होंने अपने को भाग्य के भरोसे छोड़ दिया है और इसकी यह प्रतिक्रिया हुई है कि वे दूसरों से कहते हैं कि वही उनके लिए कुछ करें। वे शायद कभी ही स्वयं कुछ करने की सोचते हों। चिरकाल की गरीबी का यह परिणाम होना स्वाभाविक ही है; किन्तु यह दूर हो जायगा । गढ़वाली बहादुर और हट्टे-कट्टे होते हैं और यदि उन्हें अवसर दिया जाय तो वे कुछ करके दिखा सकेंगे। आठ वर्ष हुए जब देश भर में सविनय अवज्ञा आन्दोलन का दौरदौरा था और आजादी की लड़ाई में भाग लेकर जब हमारी नसों का खून दौड़ रहा था तब सरहद में उन्होंने जो वीरता का काम किया उससे वे सारे देश के प्रिय-पात्र हो गये हैं।

मई १९३८

: ८ :

सूरमा घाटी में

जब मैं एक घाटी से दूसरी घाटी में गुजर रहा था तो दोनों तरफ के घने जंगल में से रेल बहुत धीरे-धीरे जा रही थी। ऐसा मालूम पड़ता था कि जंगल में घुसना आसान नहीं है। रेल की पटरियों के दोनों तरफ इतने नजदीक तक जंगल आ गये थे कि निकलने के लिए बहुत तंग रास्ता रह गया था। जंगल की लाख-लाख आंखें मानव के इस प्रयत्न पर विद्वेष से देखती थीं और उसके खिलाफ विरोध से भरी हुई थीं, कि क्यों उसके विरुद्ध उसने इतनी जुर्रत की और अपना राज्य बढ़ाने के लिए उसे साफ कर डाला? वन लाखों मुंह फाड़ कर मनुष्य को और उसके काम को हड़प लेना चाहता था।

मैं शहरों और मैदानों का रहने वाला हूं। लेकिन वन और पर्वत की पुकार मेरे अन्दर हमेशा तेज बनी रहती है। मैं जंगलों की तरफ हक्का-बक्का देखने लगा और आश्चर्य करने लगा कि इसके घने अंधकार में न जाने कितने प्रकार के जीव और क्या-क्या दुःखान्त चीजें छिपी हुई हैं। क्या इन जंगलों की असीम प्रकृति या खून से सनी प्रकृति उन शहरों और बस्तियों की प्रकृति से, जहां मर्द और औरतें रहते हैं, गई-

बीती है ? एक जंगली जानवर तो सिर्फ भूख बुझाने के लिए ही दूसरों को मारता है। वह खेल के लिए या मारने का आनन्द लेने के लिए दूसरों को खत्म नहीं करता। जंगल के भयानक युद्ध व्यक्तिगत होते हैं। यहां जनसंहार, जिनको लोग युद्ध कहते हैं, नहीं होते। न बम डालकर या ज़हरीली गैस छोड़कर बड़े पैमाने पर नाश ही किया जाता है। जंगल और जंगली पशु इन्सान से तुलना करने पर कहीं बेहतर मालूम होते हैं!

सामने से गुजरते जंगलों को देखकर इस प्रकार के विचार मेरे मन में उठ रहे थे। छोटे-छोटे स्टेशनों पर लोग जमा हो जाते थे और बहुत से पहाड़ी लोग फल, फूल, कपड़े, जो उन्होंने स्वयं तैयार किये थे, और ताजा दूध तथा कीमती तोहफे लेकर मेरा स्वागत करने के लिए आए। चमकती हुई आंखों वाले नागों के बच्चों ने मुझे पहनने के लिए मालाएं दी। इन पहाड़ी लोगों में से कुछ ने कांग्रेस के काम के लिए मुझे कुछ पैसे भी दिए, जिनमें तांबे और निकल के सिक्के थे। उनकी प्रेम और श्रद्धाभरी आंखों के सामने मैं शर्म के मारे झुक गया। इनके सामने शहरों को क्या कहा जाय, जहां स्वार्थपरायणता, चालबाजी और रुपये की लूट-खसोट से काम चलता है ?

आखिर हम अपनी मंजिल पर आ पहुंचे, जहां बहुत भीड़ जमा हो गई थी। हमारा जोरदार स्वागत किया गया और वन्देमातरम् के नारों से आसमान गूंज उठा। मोटर से गांवों में होकर हम लोगों ने आगे का रास्ता पार किया।

सब जगह भीड़ और स्वागत। फिर हम सिलचर पहुंचे। शहर की आबादी से भी ज्यादा लोग वहां मीटिंग में जमा हो गए थे। शायद बहुत से लोग आस-पास के गांवों से आ गए थे।

तीन दिन तक मैं विशेषतया सिलहट जिले में घाटी के इधर-उधर घूमता रहा। आसाम की घाटी की तरह यहां भी सड़कें प्राय बहुत, खराब थीं और कई जगह नावों में बैठकर पार उतरना पड़ा; लेकिन चारों ओर का दृश्य इतना सुन्दर और मोहक था कि मैं सड़क की खराबी को भूल गया और जनता की तरफ से जो शानदार स्वागत हुआ उससे मेरा दिल फड़क उठा।

सिलहट निश्चित बंगाल है। भाषा इस बात को सिद्ध करती है और वहां के जमींदारी किसान भी, जो वहां इकट्ठे हुए। उनमें बहुत से मुसलमान थे। सिलहट ब्रह्मपुत्र की घाटी से भी कुछ मिलता-जुलता है। दोनों में एकसे चाय के बाग हैं, जिनमें दुखी और बेबस मज़दूर काम करते हैं। ऐसे अलग किए हुए इलाके भी हैं जहां आदिवासी रहते हैं। सिलहट बंगाल अवश्य है, लेकिन इसका कुछ निजीपन भी है, जिसको स्पष्ट करना बहुत कठिन है, फिर भी वह वहां के वातावरण में साफ़ देखा जा सकता है।

मुझे यह देखकर बड़ी खुशी हुई कि जनता में, हिन्दू और मुसलमानों दोनों तथा पहाड़ी लोगों के दिलों में कांग्रेस के लिए बड़ा उत्साह था। यह स्पष्ट था कि पहले वहां अच्छा काम किया गया था और उसका नतीजा अच्छा ही दिखाई देता था। यह देखकर खुशी होती थी कि जिले के सब हिस्सों में

ईमानदार कार्यकर्त्ता मौजूद थे । सिलहट मे भी बहुत से वैसे कार्यकर्त्ता थे और जनता भी बहुत अच्छी थी । इसलिए सिलहट से बहुत कुछ उम्मीद रखी जा सकती है । दुर्भाग्य से वहां कुछ स्थानीय झगड़े उठ खड़े हुए थे, जिनसे अच्छे काम के रास्ते में बाधा पड़ गई; लेकिन यह गड़बड़ ज्यादा दिन नही चलने दी जा सकती । व्यक्ति की अपेक्षा ध्येय की ज्यादा अहमियत है और जो कार्यकर्त्ता इसको महसूस नहीं करता, वह कांग्रेसी आदमी के पहले पाठ को ही सीखने में नाकामयाब रहता है । लेकिन मुझे सिलहट, उसकी जनता और कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं पर, जो कि बड़ी तत्परता से काम करते है और जिन्होंने अबतक बहुत-सी कुरबानियां की हैं, विश्वास है । सिलहट छोड़ते वक्त जब मुझसे सन्देश देने को कहा गया तो मैंने कहा, "शाबाश सिल्हट ! तेरी तरक्की हो !"

सिलहट के भानुबिल इलाके में मणीपुरियों से मिलने का मौका हुआ । मेरे स्वागत के लिए व्यवस्थित पंक्तियों मे बैठी मणीपुर की स्त्रियां और लड़कियां सैकड़ों चर्खे चला रही थी और उनके आदमी और सुन्दर बच्चे उनके पास खड़े थे । मुझे इन मणीपुरियों को देखकर आश्चर्य और आनन्द हुआ । सिविल नाफर्मानी के आन्दोलन मे जो वीरता उन्होंने दिखलाई थी, वह जानकर बड़ी खुशी हुई । कुछ वर्ष पहले जबकि उनका कर बढ़ाने का प्रयत्न किया था तो इन्होंने कर न देने का एक अपना आर्थिक आन्दोलन भी शुरू किया था ।

यहां के लोग बिल्कुल नये थे, मेरे लिए नये, और वे

भारतवर्ष के बाकी लोगों से, जिन्हें मैंने देखा था, भिन्न थे। हम अपने ही देश और उसके वासियों के बारे में कितना कम ज्ञान रखते हैं! उनका रूप-रंग मंगोलियन था और वे कुछ-कुछ बर्मावालों से भी मिलते-जुलते थे। और बहुत सी बातों के साथ-साथ उनकी स्त्रियों की पोशाक भी बर्मावालों के जैसी ही थी। वे बहुत ही साफ़ और सुथरे थे। उनकी नौ-जवान लड़कियां, जिनकी आंखों मे हंसी खेल रही थी, मौजूदा ज़माने की लगती थी। उनके बच्चे भी बड़े खूबसूरत मालूम देते थे। उनके सिर के बाल ऊपर मस्तक पर से थोड़े कटे हुए थे और उन्हें बड़ी सफाई से सामने सजाया गया था। ये सब सुन्दर लोग किसान थे, जिन्हें थोड़ी या बिल्कुल भी शिक्षा नहीं मिली थी। वे अच्छा कातना और बुनना जानते थे और उन्हें अपने ऊपर अभिमान था। ये सब वैष्णव थे। लेकिन इनमे भी कुछ बर्मी रस्म-रिवाज आ मिले थे और जैसा कि मुझे बतलाया गया कि इनके यहां भी विवाह रद्द किया जा सकता है।

दोनों घाटियों के बीच में मणीपुर रियासत है, जो इन लोगों का केन्द्र है और वहां से ये भानुबिल शाखा कुछ पीढ़ी पहले चली आई थी; लेकिन यह कहना कठिन है कि शुरू में ये लोग कब बर्मा से या और कहीं से आए। मेरा खयाल है कि ये लोग पिछड़ी हुई जाति में समझे जाते हैं; लेकिन यदि इनको ठीक शिक्षा और विकास पाने का मौका दिया जाय, तो ये सुन्दर और बुद्धिमान लोग क्या नहीं कर सकते?

सिल्हट में मुझे कुछ मुस्लिम माहीगीर मिले, जिन्होंने

शिकायत की कि उनके स्वधर्मी ही उनको अछूत और जाति-बहिष्कृत मानते हैं।

सिलहट में आस-पास की पहाड़ियों से बहुत से नागा लोग भी कुछ तोहफ़े लेकर मेरा स्वागत करने के लिए आए। उनसे और अन्य लोगों से एक कहानी सुनी, जो भारत को याद रखनी चाहिए। यह एक उन्हींके कबीले की जवान स्त्री की कहानी है, जो नागा पहाड़ियों की कोबोई जाति से सम्बन्ध रखती थी। वह स्त्री एक पुजारियों के वर्ग की थी, और उसे मिशन स्कूल में तालीम हासिल करने का खास मौका मिला, जो कि उसकी जाति में मिलना दुर्लभ है। वह नवी या दसवी जमात में थी। उसका नाम गिंडालो था। आज से ६ वर्ष पूर्व जबकि हिन्दुस्तान में चारों ओर सिविल नाफ़रमानी का जोर बढ़ रहा था, 'उसकी उमर करीब १९ बरस की थी। गांधीजी और कांग्रेस की खबरें उसके पहाड़ी निवास-स्थान तक भी पहुंचीं, जिसकी प्रतिध्वनि उसके हृदय मे हुई। उसने अपने लोगों की स्वतन्त्रता का और उनके कड़े बन्धनो को दूर कर देने का स्वप्न देखा। उसने आजादी का झंडा बुलन्द किया और अपने लोगों को उसके नीचे इकट्ठे होने का आह्वान किया। शायद उसका यह ख्याल कि ब्रिटिश साम्राज्य नष्ट हो रहा है, वक्त से पहले था। ब्रिटिश साम्राज्य का अभी दौर-दौरा था, जिसका परिणाम यह हुआ कि उससे और उसके लोगों से सरकार ने खूब बदला निकाला। बहुत से गांव जला दिये गए और बरबाद कर दिये गए। इस वीर लड़की को पकड़ लिया

गया और उमर भर की कैद की सजा दी गई। अब वह आसाम की किसी जेल की तंग कोठरी और तनहाई में अपनी जवानी नष्ट कर रही होगी। वह छः वर्ष से वहीं पड़ी है। वह लड़की जिसने अपने यौवन की तरंग में ब्रिटिश साम्राज्य को ललकारा, कितनी सताई गई है और उसके भावों को कितना कुचला गया है? अब उसे पहाड़ी प्रदेशों के घने जंगलों में घूमने या पर्वतो की ताजा हवा में गीत गाने की आजादी नहीं है। यह जंगली वीर लड़की कुछ ही गज की दूरी पर एक तंग अंधेरी कोठरी में बंद पड़ी है और दिल मसोस कर रह जाती है। और हिन्दुस्तान इस बहादुर लड़की को, जिसकी रग-रगम पर्वतों की स्वतन्त्र भावना है, जानता तक नहीं है! लेकिन उसके अपने देश के लोग 'गिडालो रानी' को अच्छी तरह जानते हैं और उसका नाम बड़े प्रेम और अभिमान से लेते हैं। एक दिन आयगा जब भारत भी उसको याद करेगा और उसको जेल की कोठरी से बाहर निकालेगा।

लेकिन हमारा तथाकथित प्रान्तीय स्वायत्तशासन उसको आजाद कराने में सहायक नहीं हो सकता। उससे अधिक प्रयत्न की आवश्यकता है, कारण कि अलग किए हुए इलाके प्रान्तीय मंत्रिमंडल के कार्यक्षेत्र से बाहर हैं और यह आश्चर्य की बात है कि ये इलाके प्रान्तीय स्वायत्तशासन मिलने से पहले की अपेक्षा अब और भी दूर हो गए हैं। आसाम धारासभा में गिडालो के बारे में प्रश्न करने की भी इजाजत नहीं दी गई। १९३५ का भारत सरकार एक्ट हमें इस प्रकार के स्वराज्य की ओर ले जाता है!

अन्धेरा हो चुका था और मेरा दौरा भी खत्म होने वाला था। हम कुछ रात बीते हाबीगंज पहुंचे और वहां सभा करके ट्रेन पकड़ने के लिए जल्दी से शाइस्तागंज आए। क्षितिज पर आधा चांद खड़ा था, जिसकी रुपहली आभा चली गई थी, और वह उदास और पीला नजर आता था। मैंने पिछले १२ दिनों की दौड़-धूप, भीड़ और जोश-खरोश की कल्पना की, जो अब सपने जैसे नजर आते थे। मुझे जेल की कोठरी में बैठी हुई गिडालो रानी की याद आई। वह क्या सोच रही होगी ? क्या-क्या सोच कर अफसोस कर रही होगी और कैसे-कैसे सपने देख रही होगी !

दिसम्बर १९३७

: ६ :

काश्मीर में बारह दिन

"मेरी आंखों के सामने पहाड़ों का दृश्य घूमता रहता है, और वहां के खतरे भी सुहावने लगते हैं। मेरा हृदय उन शान्त हिम-कणों के लिए तरसता रहता है।"

आज से कोई छः बरस पहले जब मैं जेल में बैठा हुआ अपनी कहानी लिख रहा था और काश्मीर की अपनी पिछली यात्रा को याद कर रहा था तो वाल्टर डी ला मेयर के ये शब्द उद्धृत किए थे। चाहे मैं जेल हूं, या बाहर; लेकिन काश्मीर की याद मुझे बराबर आती रहती है। यद्यपि वहां के पहाड़ और घाटियों को देखे हुए बहुत समय गुज़र चुका है, फिर भी उनकी याद हरदम बनी रहती है। इच्छा थी कि मैं एक बार फिर वहां जाऊं, लेकिन अपनी इस ख्वाहिश को रोकने के लिए मुझे काफ़ी संघर्ष करना पड़ा। क्या मेरे लिए यह वाजिब था कि मैं अपने उस काम को छोड़ देता, जिसमें मेरा तमाम समय लगा हुआ था, और वहां केवल अपनी आंखों और दिली इच्छा को तृप्त करने के लिए भाग जाता ?

लेकिन दिन, महीने और वर्ष गुज़र गए। आदमी की ज़िन्दगी थोड़ी है और ज्यों-ज्यों समय गुज़रता गया मुझे एक

'राजनीति से दूर'—पंडितजी

भारत सरकार के 'प्रेस इन्फरमेशन ब्यूरो' के

तरह डर-सा लगने लगा। बड़ी उमर का फायदा हो सकता है, विशेषकर चीनवालों ने तो औरों की अपेक्षा इसकी बहुत ही प्रशसा की है। बड़ी उमर में स्थितप्रज्ञता आ जाती है, एक प्रकार का संतुलन कायम हो जाता है, बुद्धिमानी दरशने लगती है, यहां तक कि हर तरह की सुन्दरता की परख भी बढ़ जाती है; लेकिन साथ ही आदमी मे लचीलापन नही रहता। बाहरी प्रभाव भी उस पर बहुत कम पड़ता है। उसके भावों को आसानी से बदला नहीं जा सकता। भावों की प्रतिक्रिया सीमित होती है। मनुष्य जोश में पागल होने की बजाय वड़ी उमर में आराम और सुरक्षा की ओर ज्यादा ध्यान देता है। प्रकृति और कला के सौन्दर्य का वह गंभीरता मे विवेचन तो कर सकता है; लेकिन उस सौन्दर्य की झलक उसकी आंखों या दिल में नहीं दिखाई देती। इस बात से जमीन आसमान का अंतर पड़ जाता है कि इटली की—फासिस्ट इटली नहीं, बल्कि संगीत, काव्य और कला-पूर्ण इटली अर्थात् लीयोनार्डो, राफेल, माइकल एंजिलो, डान्ते और पेट्रार्क की इटली–यात्रा कोई जवानी में करता है या बुढ़ापे में। बुढ़ापे में तो सिवाय इसके कि चुपचाप बैठकर पर्वतों को मौन आश्चर्य के साथ देखा जाए, और क्या हो सकता है?

ज्यों-ज्यों समय गुजरता गया और मेरी उमर धीरे-धीरे बुढ़ापे की ओर बढ़ती गई, मुझे डर लगने लगा कि अगर मैं फिर वहाँ जा भी सका तो भी शायद ही वहां के सौन्दर्य को हृदय में महसूस करने के योग्य रहूं!

काश्मीर में मित्रों ने बार-बार मुझे बुलाया। शेख अब्दुला

ने कई बार मुझे मजबूर किया और प्रत्येक काश्मीरी ने याद दिलाया कि मैं भी काश्मीर का बेटा हूं और मेरा भी उसके प्रति कुछ कर्तव्य है। मैं उनके आग्रह पर हंसता था; क्योंकि मेरे दिल में वहां जाने के लिए उन सब बातों से, जो वे मेरे सामने रख रहे थे, बढ़कर प्रेरणा मौजूद थी। पिछले वर्ष मैंने वहां जाने का और संभव हो तो गांधीजी को भी साथ ले जाने का पक्का इरादा कर लिया था; पर भाग्य मे कुछ और ही लिखा था। ऐन मौके पर मुझे हवाई जहाज से भारत के दूसरे छोर अर्थात् समुद्र पार लंका जाना पड़ा और वहां से वापसी पर चीन।

इसी बीच हालात बहुत तेजी से बदल गए। यूरोप में लड़ाई छिड़ गई और नई-नई कठिनाइयाँ आने लगी, और मुझे भय लगने लगा कि मैं इन घटनाओंमें अधिकाधिक फंसता जा रहा हूं। क्या काश्मीर जाने की मेरी संभावना फिर दूर पड़ जायगी? लेकिन भाग्य की इस करतूत के खिलाफ़ मेरे दिमाग ने विद्रोह कर दिया और जिस समय फ्रांस का भाग्य बीच में लटक रहा था, मैं सीमाप्रांत गया और वहां से काश्मीर।

मैं एबटाबाद और जेहलम की घाटी के रास्ते से गया। यह रास्ता निहायत सुहावना है, जिसमें घाटी के सौन्दर्य और आकर्षण का दृश्य धीरे-धीरे आंखों के सामने खुलता जाता है। लेकिन शायद यह अच्छा होता कि मैं जम्मू और पीर-पंचाल के रास्ते से जाता। यह रास्ता ज्यादातर सुनसान है। लेकिन ज्योंही पर्वत को पार करके लम्बी सुरंग

में से गुज़र कर बाहर निकलते हैं, हृदय को मुग्ध करने वाला सुन्दर दृश्य नज़र आता है। अंधेरे से एकदम उजाले में चले जाते हैं और वहां बहुत नीचे काश्मीर की घाटी है जो हमारे स्वप्न के आश्चर्य-लोक की भांति सामने आती है और जिसके चारों ओर पहाड़ चौकसाई से पहरा देते हैं।

लेकिन मैं इस रास्ते से नहीं गया। मेरा रास्ता कुछ कम रोचक था; लेकिन मेरा हृदय दूसरे रास्ते से लौटने की उमग से भर रहा था। बहुत दिनों बाहर रह कर, अपनी मातृभमि में पहुचने पर सब जगह एक भाई या पुराने दोस्त की भाति स्वागत पाना बहुत अच्छा लगता था। जिन चित्रों की कल्पना मैंने कई वर्षों से सहेज कर रक्खी थी उनको प्रत्यक्ष सामने देखकर बहुत आनन्द मिला। मैं पहाड़ों और उस तंग घाटी से, जिसमे दरिया जेहलम नीचे की ओर तेजी से बह रहा था, बाहर निकल आया और सामने काश्मीर की घाटी नजर आने लगी। सामने देवदार के पतले-पतले वृक्ष पहरेदार की तरह खड़े स्वागत कर रहे थे। पास ही चिनार के शानदार विशाल वृक्ष थे जो सदियों से वहां खड़े थे। खेतों में काश्मीर की सुन्दर स्त्रियां और बच्चे काम कर रहे थे।

हम श्रीनगर पहुंचे। वहा सब जगह पुराने मित्रों ने हमारा स्वागत किया। हम दरिया में ऊपर की तरफ़ एक बढ़िया नाव में बैठकर गए। पीछे-पीछे बहुत से शिकारे आ रहे थे और दरियाके दोनों किनारोंके मकानों में स्त्री-पुरुष और बच्चे बहुत खुश दीख पड़ते थे। मुझ पर जो प्रेम की बौछार की

गई उससे मेरा हृदय इतना प्रभावित हुआ कि उतना पहले शायद ही कभी हुआ हो, और ज्योंही श्रीनगर का दृश्य मेरी आंखों के सामने से गुजरा, मेरा दिल इतना उमड़ आया कि मैं कुछ बोल न सका। पीछे की तरफ़ 'हारी पर्वत' था और सामने कुछ फ़ासले पर शंकराचार्य या तख्तेसुलेमान नजर आता था। मैं काश्मीर के अन्दर पहुंच गया था।

मैंने काश्मीर मे बारह दिन गुज़ारे। इस अरसे मे हम कुछ दूर ऊपर अमरनाथ की घाटी तक और लिद्दर घाटी से ऊपर कोलहाई ग्लेशियर तक गये। हमने मार्तण्ड के प्राचीन मन्दिर के दर्शन किए और बिजबिहारा के प्रतिष्ठित चिनार-वृक्षों के नीचे भी बैठे, जो कि पिछले चार सौ वर्षों में खूब फैल-फूल गये हैं। हम मुगल बाग मे इधर-उधर घूमे और कुछ देर के लिए पुराने शानदार जमाने में पहुंच गये। हमने चश्मे-शाही का मजेदार जल पिया और डल झील मे थोड़ी देर तैरे। काश्मीर के होशियार कारीगरों की सुन्दर दस्तकारी को भी देखा। बहुत-से जल्सों मे शरीक हुए, भाषण दिये और सब प्रकार के लोगों से मिलना-जुलना हुआ।

मैंने उस समय की कारंवाइयों में दिल लगाने की कोशिश की। किसी हद तक कामयाब भी हुआ; लेकिन अधिकतर मेरा दिल कही और ही था, और मैं दिन भर के कार्य-क्रम और सार्वजनिक जलसों में उस आदमी की तरह हिस्सा ले रहा था, जो किसी दूसरे ही कार्य में लगा हो, या किसी ऐसे छिपे काम पर आया हो, जिसको सबके सामने जाहिर नहीं कर सकता हो। वहां मैं ऐसे घूमता फिरा जैसे कोई सौन्दर्य

के नशे में हो और वह नशा मेरे दिमाग पर पूरी तरह हावी था।

काश्मीर की नदियों, घाटियों, झील और शानदार वृक्षों का सौन्दर्य मानवता से ऊपर उठी हुई अति रूपवती युवती की भांति नजर आता था। दूसरी ओर विशाल पर्वतों और चट्टानों, बर्फ से ढकी हुई चोटियों, ग्लेशियर और तेजी से नीचे घाटियों में गिरते हुए झरनों का भयानक दृश्य था। उन सबके सैकड़ों रूप थे, अनगिनत पहलू, जो घड़ी-घड़ी बदलते थे। कभी मुस्कराते दीखते तो कभी दुःख से व्याकुल। डल झील पर से कुहरा उठना दिखाई देता था, जिसमें से पारदर्शक बुर्के की तरह पीछे की सब चीजें नजर आती थी। पहाड़ की चोटियों को आलिगन में भर लेने के लिए बादल बांहें फैला देते थे या बच्चों की तरह चुपचाप खेलने के लिए नीचे को खिसक जाते थे। मैंने इस घड़ी-घड़ी बदलने वाले दृश्य को जी भर कर देखा और उसकी सुन्दरता पर मुग्ध-सा हो गया। जिस समय मैं यह दृश्य देख रहा था मुझे ऐसा लगता था मानों मैं सपना देख रहा हूं और ये चीजें ऐसी ही झूठी हैं जैसी हमारी आशाएं और आकांक्षाएं, जो शायद ही कभी पूरी होती हैं। यह ऐसे ही था जैसे सपने में कोई अपनी प्रियतमा का मुख देखना हो और आंख खुलने पर गायब हो जाता हो!

: २ :

जब मैं चीन गया था तो मुझे चीन वालों की कारीगरी और बढ़िया दस्तकारी देखकर आश्चर्य हुआ था। भारत

भी मुद्दत से अपने दस्तकारों और कारीगरों के लिए मशहूर रहा है; लेकिन मुझे लगा कि चीन भारत से बाजी मार ले गया है। जब मैं काश्मीर आया तो मुझे महसूस हुआ कि यहां की दस्तकारी चीन का मुकाबला कर सकती है। काश्मीर के कारीगर अपनी कुशल उंगलियों से कितनी सुन्दर चीजें बनाते हैं! उनके छूने और देखने तक में आनन्द आता था।

सैकड़ों साल से काश्मीर अपने दुशालों के लिए प्रसिद्ध रहा है; लेकिन इतनी शोहरत के बावजूद दुशालों की दस्तकारी गिरती जा रही थी, और पश्चिम के कारखानों में बनी हुई घटिया चीजों ने उनकी जगह ले ली थी। काश्मीर की और भी कई दस्तकारियों का यही हाल हो गया था। इन चीजों का व्यापार केवल सैर-सपाटा करने वालों तक ही सीमित हो गया था, लेकिन भारत के अमीर लोग काश्मीर की बनी हुई कलापूर्ण चीजों की बजाय प्रायः विदेशी चीजों को ही पसन्द करते थे।

बीस वर्ष पहले जब भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन ने पलटा खाया तो इसका असर गहरा पड़ा। हाथ की बनी हुई चीजों पर आग्रह रखने से हमने इन दस्तकारियों को नया जीवन दिया और कई दस्तकारियों को खत्म होने से बचा लिया। इस आन्दोलन का असर काश्मीर पर भी पडा और धीरे-धीरे यहां की बनी हुई चीजों की खपत भारत में होने लगी। अखिल भारत चर्खा संघ ने इस काम में सबसे अधिक हिस्सा लिया और काश्मीर-शाखा से भारत में सैकड़ों बिक्री-केन्द्रों को माल जाने लगा। इतना होने पर भी गति इतनी तीव्र

नही रही, जितनी होनी चाहिए थी। दस्तकारियो के बढ़ने स बहुत-से बेरोजगार कारीगरों को काम मिल गया और यह खुशहाली की निशानी है।

लेकिन मजदूरी बहुत कम है। काम जितना बढ़िया किया जाता है उसके मुकाबले में मजदूरी को देखते शर्म आती है। भारत के अन्य भागों की अपेक्षा काश्मीर में भेद-वैचित्र्य अधिक है। इस प्रदेश में जहां एक तरफ प्रकृति के सौन्दर्य और प्राकृतिक देन की बहुलता है, वहां नितान्त गरीबी का राज्य भी है और पेट भर खाने के लिए लोग बराबर संघर्ष करते रहते हैं। काश्मीर के स्त्री-पुरुष देखने में सुन्दर और बात-चीत करने में प्यारे लगते हैं। वे होशियार और अच्छे दस्तकार भी हैं। उनकी भूमि उपजाऊ और सुन्दर है। फिर भी उनमें इतनी भयानक गरीबी क्यों है?

जब-जब मैं काश्मीर के सौन्दर्य की आनंदमयी कल्पना में डूबता था, मुझे यहां की गरीबी का चित्र बार-बार चोट पहुंचाता था। मुझे आश्चर्य होता था कि जब यहां प्रकृति इतनी दयालु है तो यहाँ के लोग इतने गरीब क्यों हैं? मैं नहीं जानता कि काश्मीर में कौन-कौन-से खनिज पदार्थ या अन्य प्राकृतिक साधन हैं। मैं सोचता हूं कि वैसे पदार्थ या साधन इस देश में बहुत हैं और पहला काम यह होना चाहिए कि इन साधनों का निरीक्षण किया जाय।

लेकिन अगर यह भी मान लिया जाय कि अतिरिक्त साधन यहाँ नही हैं तो भी वर्तमान साधन लोगों के जीवन-माप को ऊंचा उठाने के लिए काफी हैं, बशर्तेकि इन

साधनों को व्यवस्थित और संगठित आधार पर काम में लाया जाय। यहां बहुत-सी ऐसी सस्ती चीजें मिलती हैं जिनसे छोटे-बड़े बहुत से उद्योग-धंधे चलाये जा सकते हैं। ग्रामोद्योग और दस्तकारियों को बढ़ाने के लिए यहाँ पर्याप्त क्षेत्र है। फिर सैर-सपाटे के लिए काफी लोग यहां आते-जाते रहते हैं, जिसके लिए काश्मीर एक आदर्श जगह है। यह भारत की ही नहीं, अपितु एशिया भर की क्रीड़ा-स्थली बनने योग्य है।

मैं खुद तो यह पसन्द नहीं करता कि कोई देश सैर-सपाटे के लिए आने-जाने वाले लोगों पर अवलम्बित रहे। यह परावलम्बन अच्छा नहीं है और बाहरी कारण इसे अकस्मात् ख़त्म कर दे सकते हैं; लेकिन कोई वजह मालूम नहीं देती कि चारों ओर से उन्नति करने की योजना के अंग के रूप में लोगों के आने-जाने को भी तरक्की क्यों न दी जाए? इस समय यहां एक भ्रमणार्थी विभाग है सही, लेकिन इसकी कार्रवाइयां मर्यादित और सरकारी तरीके की-सी मालूम होती हैं। मुझे काश्मीर का परिचय करानेवाली पुस्तकें भी नहीं मिल सकीं। काश्मीर के रास्तों के कुछ विवरण मिलते हैं; लेकिन वे इतने भद्दे हैं और गंदे छपे हैं कि उन्हें देखने को भी जी नहीं करता। इस वक्त भी शायद वही किताबें चलती हैं जो एक पीढ़ी पहले की लिखी हुई हैं। भ्रमणार्थी विभाग को सबसे पहले घाटियों के ऊपर या इधर-उधर आने-जाने के रास्तों के बारे में पूरी जानकारी देने वाली सस्ती पुस्तकें निकालनी चाहिएं।

काश्मीर उन 'होस्टलों' के लिए आदर्श स्थान है, जो

कि समस्त यूरोप व अमरीका में फैले हुए हैं। सारे काश्मीर में ये होस्टल फैल जाने चाहिएं। नौजवान लड़कों और लड़कियों को पहाड़ों और घाटियों में घूमने-फिरने और इस प्रकार इस प्रदेश के बारे मे अच्छी जानकारी प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए।

मैंने सस्ती चीजों का ऊपर जिक्र किया है। जब मैं जेहलम की घाटी मे गया तो वहा पानी से पैदा हुई बिजली का कारखाना देखा। आज से बीस वर्ष पहले उसकी जो हालत थी, वही आज भी है। इसमें कोई फर्क नहीं आया। बहुत-सी बिजली का ठीक उपयोग नहीं किया जा रहा था। बहुत-सी शक्ति, जो पैदा की जा सकती थी, पैदा ही नहीं की जा रही थी। इन बातों से मैंने अन्दाजा लगाया कि काश्मीर अप्रगतिशील है।

काश्मीर जैसे-का-तैसा है। श्रीनगर का शहर पहले की अपेक्षा अब कुछ बढ़ गया है और उसकी बाहरी सीमाओं पर कुछ ज्यादा मकान खड़े हो गए हैं। डल झील के किनारे पर भी नई सैरगाह बन गई है। महाराजा नए महल खड़े करने के शौकीन हैं। उनका नया महल, जो काफी बड़ा है, साफ़-सुथरा और आकर्षक नजर आता था। राजा-महाराजाओं के महलों की भांति वह ज्यादा भड़कीला या खर्चीला नहीं है। लेकिन दो-चार सैरगाह या महल खड़े होने से किसी शहर या देश में कोई खास फर्क नहीं पड़ता। इन छोटे-मोटे परिवर्तनों के अलावा श्रीनगर में और कोई खास तब्दीली नहीं दिखाई दी।

मेरी इच्छा है कि श्रीनगर को नए सिरे से बनाने और आयोजित करने का काम कोई बहुत बड़ा कारीगर अपने हाथ में ले ले। सबसे पहले दरिया के किनारो पर ध्यान देना चाहिए, फिर तंग गलियां और गरीबों के मकान हटाकर खुले हुए हवादार मकान और चौक बनाने चाहिए, गंदा पानी निकालने की नालियों की ठीक व्यवस्था हो। बहुत-से ऐसे सुधार किए जाएं जिनसे श्रीनगर आदर्श सुन्दर शहर बन जाए, जिसमें वितस्ता और अनेक नहरें मस्ती से बहती हों जिन पर शिकारे चलते हों और हाउसबोट किनारों के पास खड़े हों। यह कोई खाली तस्वीर नहीं है, क्योंकि यहां सौंदर्य का जादू तो पहले ही से मौजूद है, लेकिन दुर्भाग्य से मनुष्य ने अपनी करतूत से इस सुन्दरता पर पर्दा डाल दिया है। इस गन्दगी के नीचे दबी हुई सुन्दरता जहां-तहां अब भी अपना स्वरूप दिखाती है।

लेकिन अगर इस योजना को हाथ में लेना है तो कुछ धनिकों के लिए महल बनाना बन्द करना पड़ेगा और राज्य के साधनों को इस बड़े काम में जुटाना पड़ेगा। कोई आयोजना उस वक्त तक पूरी नही हो सकती जबतक ऐसे निहित स्वार्थ मौजूद हैं, जिन पर राज्य का बहुत-सा धन स्वाहा हो जाता है और जनता की उन्नति के काम में बाधा पड़ती है। साथ ही यह काम उस वक्त तक भी आगे नहीं बढ़ सकता जबतक कि जन-साधारण का रहन-सहन इतना गिरा हुआ हो, गरीबी उन्हें तबाह करती हो और कुरूढ़ियां उनकी तरक्की के रास्ते में रुकावट डालती हों। अगर हमें अपने सामने ही कुछ

तरक्की कर लेनी है तो हमें दूसरे ही ढंग से विचार करके तेजी से काम करना होगा।

वैसे तो काश्मीर ने कोई तरक्की नहीं की, लेकिन एक तब्दीली मुझे बहुत पसन्द आई। वह यह कि सरकारी स्कूलों में बुनियादी तालीम जारी कर दी गई है। मैंने कुछ स्कूलों को देखा जहां बच्चे खुशी-खुशी खेल में और काम में जुटे हुए थे। हमारे सारे प्रयत्न और संघर्ष इन्हीं बच्चों की खातिर हैं और यह खुशी की बात है कि उनमें से कुछ जीवन की ठीक शिक्षा हासिल कर रहे हैं और शुरू की उमर से ही अपने व्यक्तित्व का विकास कर रहे हैं और दिमाग व हाथों को काम का आदी बना रहे हैं।

मै काश्मीर में जहां-जहां गया स्त्रियों ने मेरा भाई या बेटे के रूप में स्वागत किया। उनकी आंखों में प्रेम देखकर मेरा हृदय गद्गद् हो जाता था। मटन में एक वृद्ध काश्मीरी स्त्री ने मुझे आशीर्वाद दिया और जैसे मां बेटे का मस्तक चूमती है, उसने भी मेरा मस्तक चूमा।

हमने श्रीनगर में साढ़े तीन दिन गुजारे और फिर ऊपर घाटियों में एक सप्ताह आराम किया। श्रीनगर के आस-पास की जगह इतनी रमणीक है कि मै वहां बहुत दिनों तक ठहर सकता था, लेकिन मुझे तो पहाड़ों, चट्टानों के तंग रास्ते और ग्लेशियर देखने की तीव्र लालसा थी। मैं चाहता था कि अपने दिमाग में ज्यादा-से-ज्यादा अनुभव और भावनाओं का संग्रह करूं ताकि फुरसत के समय याद करके इनके चित्र फिर सामने खड़े करके आनन्द ले सकूं; लेकिन श्रीनगर में इतनी मुला-

कातें और सभाएं हुईं कि जिन्दगी का पुराना ढर्रा-सा ही चलता रहा। हम वेरीनाग, अच्छबल, अनन्तनाग (इस्लामाबाद) और मटन (मार्तण्ड) आदि स्थानों पर गए। मौसम अच्छा नहीं था। वर्षा के होते हुए भी बहुत से लोग हमारा स्वागत करने के लिए जमा हो जाते थे और प्रायः वर्षा में ही उन्हें दो-चार शब्द मुझे कहने पड़ते थे। जब मैं शाम को पहलगाम पहुंचा तो थक कर चूर हो गया था और भीग गया था। पिछली वार कई वर्ष पहले जब मैंने पहलगाम देखा उस वक्त से अब यह बहुत बढ़ गया था और केवल एक पड़ाव जैसा नहीं रह गया था।

अगले दिन हम फिर वर्षा में भीगते हुए अमरनाथ सड़क पर चंदनवाड़ी गए। कुछ दूर घोड़े पर और कुछ दूर पैदल चले। हमारे कई साथियों को वर्षा के कारण यह सफर अच्छा नहीं लगा और वे थके हुए और परेशान लौटे, लेकिन मुझे मुंह पर वर्षा के थपेड़ों से बड़ा आनन्द मिला और उस पहाड़ी नाले का दृश्य, जिसके साथ-साथ हम चल रहे थे, बड़ा रोचक प्रतीत हुआ। अपनी तमाम पार्टी को चंदनवाड़ी छोड़कर मैं एक मित्र के साथ कुछ मील ऊपर तक गया। मुझे इस बात का दुःख हुआ कि समय की कमी के कारण हम लोग, शेषनाग की सुन्दर झील तक, जो कि अमरनाथ के रास्ते में अगला पड़ाव है, नहीं पहुंच सके।

हम उसी रोज चंदनवाड़ी से पहलगाम वापस लौट आए और अगले दिन सबेरे ही हमारा काफिला लिद्दर नदी के किनारे-किनारे लिद्दरवट की तरफ बढ़ा। आरू ठहरने के लिए

एक बड़ी रमणीक जगह है। कुछ देर वहां ठहरकर हम लोग आगे लिदरवट की ओर बढ़े। मौसम साफ़ हो गया था और हम आसमान की तरफ आशा भरी निगाहों से और बेकरारी से देखते थे, क्योंकि अगले रोज हमें कोलहाई ग्लेशियर पहुंचना था।

यह अच्छा हुआ कि आज का दिन खुला रहा; क्योंकि रास्ता बड़ा खराब था और पहाड़ी टीलों में से और पहाड़ी नदी-नालों में से गुजर कर जाता था। आखिरकार हम ग्लेशियर पर पहुंच गए और दोपहर का खाना वहीं खाया। गढ़ों और दरारों से बच कर हम कुछ दूर तक ऊपर चढ़े, पर ज्यादा दूर नही जा सके और न बहुत देर तक ठहर ही सके, क्योंकि हमें जल्दी ही वापस लिदरवट पहुंचना था। लेकिन ग्लेशियर की इस थोड़ी देर की यात्रा ने ही मुझे बड़ा खुश कर दिया और मेरी एक बहुत पुरानी इच्छा पूरी हो गई।

लौटते समय हम बहुत थक गए थे और बहुत रात गए अपने स्थान पर पहुंचे। बादशाह खान विशेष रूप से थक गये थे; क्योंकि वे ज्यादातर पैदल ही चलते थे, जबकि और लोग यथासंभव घोड़ों पर चलते थे; लेकिन वे थके हों या न हों, उनका कदम कभी धीमा नहीं पड़ा और हममें से जो लोग उनके साथ चलना चाहते थे वे हांप उठते थे और उनसे पीछे रह जाते थे। इन पहाड़ी रास्तों में चलते हुए एक छः फुट दो इंच लम्बे पठान की छाप मेरे मन पर बड़ी गहरी पड़ी और खानसाहब का वही चित्र मेरी आंखों के सामने बार-बार आया करता है।

कोलहाई ग्लेशियर की यात्रा में बहुत-सी छोटी-मोटी घटनाएं हुई। हमारी पार्टी में से करीब हरेक घोड़े पर से नीचे गिरा या वैसे ही पत्थरों पर ठोकर खा गया या ग्लेशियर पर लुढ़क गया; लेकिन मैं ही ऐसा खुशकिस्मत था जो एक बार भी नहीं गिरा।

अगले दिन हमने लिद्दरवट में आराम करने का तय किया; लेकिन पूरी तरह आराम न कर सके, क्योंकि हम उस रास्ते पर घूमने निकल गये, जो कि पहाड़ों में से गुजर कर 'सिंध घाटी' तक पहुंचता है। मैं इसी रास्ते से जाना चाहता था; क्योंकि इस रास्ते पर सोनमर्ग की बहुत सुन्दर घाटी आती है। लेकिन वहां तक पहुंचने के लिए बहुत ऊंचे दर्रे से गुजरना पड़ता है, जो कि उस मौसम में बहुत मुश्किल काम था। हमारी पार्टी बहुत बड़ी थी और हमारे पास समय भी बहुत कम था। इस दर्रे का नाम यमहेर है, अर्थात् यम की सीढ़ी। इस पर इतनी चिकनी बर्फ़ पड़ी रहती है कि उस पर फिसलने से आदमी जल्दी ही यमलोक पहुंच जाता है।

इसलिए हमने 'सिंध घाटी' तक पहुंचने का इरादा छोड़ दिया, लेकिन कुछ दूर तक गए और गूजरों की कुछ बस्तियों को देखा। ये गूजर लोग खानाबदोश होते हैं, जो गर्मियों के दिनों में अपने पशुओं को चराने के लिए इतने ऊपर चले आते हैं। ये लोग अपने लिए अस्थायी आश्रय बना लेते हैं, जिनमें न बारिश रुकती है और न ठंडी हवा। कभी-कभी ये लोग बाहर को निकली चट्टानों के नीचे रहकर ही गुजारा कर लेते हैं।

गर्मी के दिनों में गूजरों के पीछे-पीछे एक और जाति के लोग, जिन्हें **भेड़वाला** कहते हैं, अपना **रेवड़** लेकर आ जाते हैं, जिसकी वजह से गूजरों को अपने पशु चराने के लिए और ऊपर चढ़ना पड़ता है। तमाम घाटी और पहाड़ में भेड़-ही-भेड़ें नजर आने लगती हैं और आखिर गूजरों को ग्लेशियर के पास तक पहुंचना पड़ता है। गर्मी के बीतने पर वहां से वे वापिस नीचे घाटी में लौट आते हैं। जिस समय हम **लिदवरट** से वापस आ रहे थे, हमने भेड़ों के रेवड़ को चरागाह की तलाश में ऊपर जाते हुए देखा।

गूजरों के कैम्पों में हम लोग गए। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि हमारा सब जगह स्वागत किया गया। आम तौर पर ये लोग अपरिचित लोगों से अच्छी तरह पेश नहीं आते, क्योंकि इनकी निगाह में अजनबी या शहर का रहने वाला इनका शोषण करने वाला ही होता है। वह इनसे दूध की बनी हुई चीजे बहुत सस्ती खरीद लेता है और शहर की बनी हुई चीजें बहुत मंहगी बेचता है, और इस तरह यह हमेशा उसके कर्ज में दबा रहता है। ये लोग सीधे-सादे होते हैं। न लिखना जानते हैं, न पढ़ना और न हिसाब करना। शहर से आने वाले लोग जो दाम उनको देते हैं वे उनको गिन भी नहीं सकते। उनके साथ हमेशा धोखा होता है और उनका हमेशा शोषण होता रहता है, जिससे वे बहुत गरीबी में रहते हैं।

लेकिन हमारा स्वागत शायद इसलिए हुआ कि शेख अब्दुल्ला हमारे साथ थे और इन लोगों ने उनका नाम सुन

रखा था। शायद इसलिए भी कि हमारी शोहरत वहां पहले से ही पहुंच गई थी। हम लोगों ने एक कैम्प में जो ३०×२० फुट का था, जाकर पूछा कि उसके अन्दर कितने आदमी रहते हैं। लेकिन इसका भी जवाब कोई नहीं दे सका; क्योंकि शायद वे इतना तक भी गिनना नहीं जानते थे या गिनने की उन्हें कभी परवा ही नहीं हुई थी। फिर हमने उनसे और ढंग से बातें पूछी कि वहां कितने परिवार रहते हे ? वहां कोई छ: या सात परिवार थे। हमने हर परिवार के मुखिया से उसकी स्त्री और बच्चों के बारे में पूछताछ की। उस एक कैम्प में करीब ५३ या ५४ आदमी थे। यह कैम्प कुछ बड़ा था। इसके अलावा और जिन कैम्पों म हम गए वे छोटे थे।

हमने इन लोगों से बात-चीत की। इन्होंने मिली-जुली हिन्दुस्तानी और पंजाबी में उत्तर दिए। वे लोग काश्मीरी नहीं थे और न काश्मीरी भाषा जानते थे। उन्होंने अपनी मुसीबतों और गरीबी का हमसे जिक्र किया। हमे रोटी खाने के लिए निमन्त्रण दिया। उनकी रोटी इतनी मजेदार थी कि शायद मैंने आज तक कभी नहीं खाई। मक्की की रोटी और उसके साथ कुछ हरा साग।

में नहीं कह सकता कि गूजर लोग कहां से आये हें और किस जाति से सम्बन्ध रखते हैं। ये लोग देखने में बहुत सुन्दर नजर आते हैं और इनकी स्त्रियों के चेहरे की बनावट बहुत आकर्षक और साफ़ है। उनके बच्चे भी बहुत प्यारे लगते हैं। बादशाह खान बच्चों को इकट्ठा करके उनके साथ खेलते थे, क्योंकि उन्हें गरीबों के बच्चों से बड़ा प्रेम है।

मुझे याद आया कि ये सीमाप्रांत में किस तरह पठानों के बच्चों के पास खड़े हो जाते थे। बच्चों को देखकर उनका चेहरा प्रेम से दमक उठता था और बच्चे भी अपने दोस्त बादशाह और नेता खान की बड़ी इज्जत करते थे।

इन गूजरों की स्त्रियां बिना किसी झिझक या शर्म के पुरुषों की तरफ देखती थीं। एक कैम्प में तो कुछ आश्चर्य भी हुआ जबकि एक स्त्री ने आकर मेरा हाथ पकड़कर स्वागत किया। उसने हमें रोटी और सब्जी, जो वह पका रही थी, खाने के लिए निमन्त्रण दिया। उसका वह ढंग और व्यवहार इतना अच्छा था कि मुझे लगा जैसे किसी ऊंचे घराने की स्त्री मुझे बुला रही है।

गूजरों के पड़ाव में जाने से हमारे अपने कैम्प में एक छोटी-सी घटना हो गई। बादशाह खान की यह आदत थी कि वे अपनी जेबें फल और मिठाइयों से भर कर चलते थे, जिसे वे गरीब बच्चों को, जो सड़क पर मिलते थे, बांट देते थे, लेकिन इत्तिफाक से उनका स्टाक खत्म हो गया और गूजरों के कैम्प में बीसियों बच्चे जमा हो गए। इसलिए उन्होंने बच्चों को हमारे कैम्प में आने के लिए कहा।

वापस लौटने पर बादशाह खान ने कैम्प के रसोइए को बुलाया और तमाम खाने की चीजें, खासकर चावल, आटा और चीनी, लाने के लिए कहा; लेकिन रसोइए की उतनी दिलचस्पी नहीं थी। इसलिए वह थोड़ी-सी चीजें लेकर चला आया। परन्तु बादशाह खान कब मानने वाले थे! उन्होंने और लाने के लिए ज़िद की। रसोइए ने कहा कि

हमारी बहुत बड़ी पार्टी है और सबको दो रोज तक खाने के लिए देना है। इसलिए वह अपना स्टाक, जो थोड़ा-सा है, खाली नहीं कर सकता। लेकिन बादशाह खान अपनी बात पर अड़े रहे। बोले कि हमारी पार्टी के लोग बहुत ज्यादा खाते हैं—और यह बात सही भी थी—इसलिए यदि लोगों को थोड़ा भी खाना पड़े या एक दिन का उपवास करना पड़े तो अच्छा ही है। तब उन्हें कैसे इन्कार किया जा सकता था? इसलिए रसोइए को और ज्यादा रसद देनी पड़ी।

अगले रोज हम लिदरवट से पहलगाम वापस पहुंच गए। हम चार-पांच रोज से बाहर की दुनिया से बिलकुल अलग-स हो गये थे। इसलिए हमें कोई बाहर की खबर ही नही मिली, जब कि उसी समय उत्तर फांस की लड़ाई में महत्वपूर्ण निर्णय किए जा रहे थे। हमें पहलगाम में कुछ देरी से खबरें मिलीं और हमने महसूस किया कि हालत कितनी गभीर हो गई है।

पहलगाम में रात भर ठहर कर हम श्रीनगर मोटर में पहुंचे। रास्ते में हमने मार्तण्ड का पुराना मन्दिर देखा, जिसके अंदर स्थानीय मित्रों ने शानदार जलपान का इंतजाम कर रखा था। वहां से अनन्तनाग या इस्लामाबाद गए, जहां एक या दो सभाएं हुई। एक सभा बिजबिहारा के विशाल चिनार वृक्षों के नीचे हुई। जिस मंच पर खड़े होकर मुझे भाषण देना था वह बहुत पुराने और शाही पेड़ के नीचे था, जिसकी गोलाई कोई ५५ फुट होगी। लोगों का कहना था कि यह पेड़ ४०० साल पुराना है। जब में इस पेड़ की ठंडी छाया में

खड़ा था तो मेरी आँखों के सामने पिछले ४०० सालों का इतिहास तेजी से घूम गया। इस लम्बे अर्से में इस पेड़ ने न जाने कैसी-कैसी विचित्र घटनाएं, क्रांतियाँ और आदमी की मूर्खताए देखी हैं। जब कि लोग सुख-दुख भरा अपना छोटा-सा जीवन पूरा करके चले गए और एक के बाद दूसरी पीढ़ी आती रही, यह पेड़ों का राजा चुपचाप खड़ा हुआ लोगों का तमाशा देखता रहा।

हम फिर श्रीनगर वापस आ गए। अपना-अपना सामान बाँधना शुरू किया और एक दूसरे से विदाई लेने लगे। अमरसिंह क्लब में एक पार्टी में शामिल हुए, जहाँ बहुत-से पुराने मित्र मिले। अन्त मे एक सभा श्रीनगर में हुई, जिसमें सबसे विदाई ली।

अगले रोज सुबह हम श्रीनगर से जम्मू की ओर चल पड़े। यह सड़क घाटी को छोड़कर पीरपंजाल की ओर जा रही थी। ज्यों-ज्यो हम ऊपर चढ़ते गए, वहाँ का विशाल दृश्य हमारी आँखों के सामने आता गया। जब हम सुरंग के नजदीक पहुचे तो नीचे घाटी की ओर अन्तिम बार निगाह डाली। वह काश्मीर की घाटी थी, जो दुनिया में सबसे बढ़कर सुन्दर मानी जाती है और इतिहास और काव्य में जिसका नाम आता है। इसके कुछ हिस्से पर हल्का-सा कुहरा छाया था और हल्की रोशनी के आने से सारा दृश्य बड़ा अच्छा लगता था। बादलों से ऊपर बर्फ से ढकी पहाड़ों की चोटियाँ नजर आती थी और नीचे घाटी में से जल-प्रवाह की धीमी-धीमी आवाज आ रही थी। हमने मन-ही-मन

उससे विदा ली और दुःखी दिल से अंधेरी सुरंग में दाखिल हो गए, जो हमें उतने सुन्दर दृश्यों की ओर नहीं लेजा रही थी।

रात को हम जम्मू सड़क पर कुद में ठहरे और वहां कुछ मित्रों से मिले। अगले रोज हम जम्मू पहुंच गए जहां मैदानों की-सी गर्मी थी। जम्मू मे हमारा खूब स्वागत हुआ, यहां तक कि हम कुछ थक गए; क्योंकि दिन में सूरज बहुत गर्म था। पहले जलूस मे शामिल हुए, फिर मुलाकातें की और रात को एक सभा हुई। यह सभा एक खुश्क पुराने तालाब में हुई, जिसके इर्द-गिर्द बहुत-सी सीढ़ियां थी, जिन पर लोग बैठ सकते थे। मुझे यह देखकर बड़ा आनन्द हुआ कि इस सभा में हजारों स्त्रियां भी आई।

बादशाह खान उसी शाम को पेशावर चले गए, लेकिन शेख अब्दुल्ला और कुछ मित्र हमारे साथ लाहौर तक आए।

काश्मीर के बारह दिन! तेईस साल के बाद बारह दिन! जीवन का एक प्रभावशाली क्षण भी वर्षों के जड़ जीवन से कहीं अच्छा होता है और काश्मीर में बारह दिन बिताना वास्तव में बड़ी खुशकिस्मती की बात थी। लेकिन काश्मीर फिर वापस बुलाता है। इसका आकर्षण पहले की निस्बत और भी ज्यादा है। काश्मीर का स्वर्गीय जादूभरा नाद कानों में गूंज रहा है और उसकी याद दिल को सताती है। जो व्यक्ति इसके जादू मे फंस गया है, वह उससे कैसे छुटकारा पा सकता है?

: १० :

लंका में विश्राम

मेरे डाक्टरो ने मुझपर ज़ोर दिया कि मुझे कुछ आराम करना चाहिए और आब-हवा बदलनी चाहिए । मैंने लका द्वीप में एक महीना गुज़ारना तय किया। हिन्दुस्तान बड़ा भारी देश होने पर भी, इसमे स्थान-परिवर्तन या मानसिक विश्राम की असली सम्भावना दिखायी न दी; क्योंकि मैं जहा भी जाता वहां राजनैतिक साथी मिलते ही और वही समस्याए भी मेरे पीछे-पीछे वहां पहुंच जाती । लंका ही हिन्दुस्तान से सबसे नजदीक की जगह थी। इसलिए हम लका ही गए– कमला, इन्दिरा और मैं । १९२७ मे यूरोप से लौटने के बाद यही मेरी पहली छुट्टी थी, यही पहला मौका था जब मेरी पत्नी, कन्या और मैने एक-साथ शान्ति से कही विश्राम किया हो और हमे कोई चिन्ताए न रही हों। ऐसा विश्राम फिर नही मिला है और मैं सोचता हू कि शायद मिलेगा भी या नही ।

फिर भी, दरअसल, हमें लंका मे नुवाया एलीया में दो हफ्तों के सिवा ज्यादा विश्राम नही मिला । वहां के सभी वर्गो के लोगों ने हमारे प्रति बहुत ही आतिथ्य और मित्र-भाव प्रदर्शित किया। यह इतनी सद्भावना लगती तो बहुत

अच्छी थी, मगर परेशानी में डाल देती थी। नुवाया एलीया में बहुत-से श्रमिक, चाय-बागों के मजदूर और दूसरे लोग रोज़ कई मील चलकर आया करते थे और अपने साथ अपनी प्रेम-पूर्ण भेंट की चीज़ें—जगल के फूल, सब्जियां, घर का मक्खन —भी लाया करते थे। हम तो उनसे प्रायः बात भी नही कर सकते थे, एक-दूसरे की तरफ देख भर लेते थे और मुस्करा देते थे। हमारा छोटा-सा घर उनकी भेंट की इन कीमती चीजों से, जो वे अपनी दरिद्रावस्था मे भी हमें दे जाते थे, भर गया था। ये चीज़ें हम वहां के अस्पतालों और अनाथालयों को भेज दिया करते थे।

हमने उस द्वीप की मशहूर चीजों और ऐतिहासिक खंड-हरों, बौद्ध मठों और घने जगलों को देखा। अनुराधापुर मे मुझे बुद्ध की एक पुरानी बैठी हुई मूर्त्ति बहुत पसन्द आई। एक साल बाद जब मैं देहरादून जेल मे था तब लंका के एक मित्र ने इस मूर्त्ति का चित्र मेरे पास भेज दिया था, जिसे मैं अपनी कोठरी में अपनी छोटी-सी मेज़ पर रक्खे रहता था। यह चित्र मेरा बड़ा मूल्यवान साथी बन गया था और बुद्ध की मूर्ति के गम्भीर शान्त भावों से मुझे बड़ी शान्ति और शक्ति मिलती थी, जिससे मुझे कई बार उदासी के मौके पर बड़ी मदद मिली।

बुद्ध हमेशा मुझे बहुत आकर्षक प्रतीत हुए हैं। इसका कारण बताना तो मुश्किल है, मगर वह धार्मिक नहीं है, क्योंकि बौद्धधर्म के आस-पास जो मताग्रह जम गये हैं उनमें मुझे कोई दिलचस्पी नहीं है। उनके व्यक्तित्व ने ही मुझे आकर्षित

किया है। इसी तरह ईसा के व्यक्तित्व के प्रति भी मुझे बड़ा आकर्षण है।

मैंने मठों में और सड़कों पर बहुत से 'भिक्षुओं' को देखा, जिन्हें हर जगह, जहां कहीं वे जाते थे, सम्मान मिलता, था। करीब-करीब सभी के चेहरों पर शान्ति और निश्चलता का तथा दुनिया की फिक्रों से एक विचित्र वैराग्य का, मुख्य भाव था। आमतौर पर उनके चेहरे से बुद्धिमता नहीं झलकती थी, उनकी सूरत से दिमाग़ के अन्दर होनेवाला भयंकर संघर्ष नही मालूम पड़ता था। जीवन उन्हें महासागर की ओर शान्ति से बहती हुई नदी के समान दिखायी देता था। मैं उनकी तरफ कुछ ईर्ष्या के साथ, आंधी और तूफान से बचानेवाला शान्त बन्दरगाह पाने की एक हल्की उत्कण्ठा के साथ, देखता था। मगर मैं तो जानता था कि मेरी किस्मत में और ही कुछ है। उसमें तो आंधी और तूफान ही हैं। मुझे कोई शान्त बन्दरगाह मिलने वाला नहीं है, क्योंकि मेरे भीतर का तूफान भी उतना ही तेज़ है जितना बाहर का और अगर मुझे कोई ऐसा बन्दरगाह मिल भी जाय, जहां इत्तिफाक से आँधी की प्रचंडता न हो तो भी क्या वहाँ मै सन्तोष और सुख से रह सकूंगा ?

कुछ समय के लिए तो वह बन्दरगाह खुशनुमा ही था। वहाँ आदमी पड़ा रह सकता था, स्वप्न देख सकता था और उष्ण-कटिबन्ध का शान्तिप्रद और जीवनदायी आनन्द अपने अन्दर भर सकता था। लंकाद्वीप उस समय मेरी भी वृत्ति के अनुकूल था और उसकी शोभा देखकर मेरा हृदय हर्ष से

भर गया। विश्राम का हमारा महीना जल्दी ही खत्म हो गया और हार्दिक दुःख के साथ हम वहां से विदा हुए। उस भूमि की और वहां के लोगों की कई बातें अब भी मुझे याद आया करती हैं; जेल में मेरे लम्बे और सूने दिनों में भी यह मीठी स्मृति मेरे साथ रही। एक छोटी-सी घटना मुझे याद है। वह शायद जाफना के पास हुई थी। एक स्कूल के शिक्षकों और लड़कों ने हमारी मोटर रोक ली और अभिवादन के कुछ शब्द कहे। दृढ़ और उत्सुक चेहरे लिये लड़के खड़े रहे और उनमें से एक मेरे पास आया। उसने मुझसे हाथ मिलाया। बिना कुछ पूछे या दलील किये उसने कहा—"मैं कभी लड़खड़ाऊंगा नहीं।" उस लड़के की उन चमकती हुई आँखों की, उस आनन्दपूर्ण चेहरे की, जिसमें निश्चय की दृढ़ता भरी हुई थी, छाप मेरे मन पर अब भी पड़ी हुई है। मुझे पता नहीं कि वह कौन था, उसका कोई पता-ठिकाना मेरे पास नहीं है, मगर किसी-न-किसी प्रकार मुझे यह विश्वास होता है कि वह अपने शब्दों का पक्का रहेगा और जब जीवन की विषम समस्याओं का मुकाबला उसे करना होगा तब वह लड़खड़ायेगा नहीं, पीछे नहीं रहेगा।

लंका से हम दक्षिण भारत, ठीक कुमारी अन्तरीप के पास, दक्षिणी सिरे पर गये। वहां आश्चर्यजनक शान्ति थी। इसके बाद त्रावणकोर, कोचीन, मलाबार, मैसूर, हैदराबाद में होकर गुजरे जो ज्यादातर देशी रियासतें हैं। इनमें से कुछ दूसरों से बहुत प्रगतिशील हैं, कुछ बहुत पिछड़ी हुई हैं। त्रावणकोर और कोचीन शिक्षा में ब्रिटिश भारत से भी बहुत

आगे बढ़े हुए हैं। मैसूर शायद उद्योग-धन्धों में आगे बढ़ा हुआ है और हैदराबाद करीब-करीब पूरी तरह पुराने सामन्त तन्त्र का स्मारक है। हमें हर जगह, जनता से भी और अधिकारियों से भी आदर और स्वागत मिला। मगर इस स्वागत में अधिकारियों की यह चिन्ता भी छिपी हुई थी कि हमारे वहां आने से कहीं लोगों के खयालात खतरनाक न हो जायें। मालूम होता है उस वक्त मैसूर और त्रावणकोर ने राजनैतिक कार्य के लिए कुछ नागरिक स्वतन्त्रता और अवसर दिया था। हैदराबाद में इतनी आज़ादी न थी और हालांकि हमारे साथ आदर का बर्ताव किया जा रहा था फिर भी मुझे वह वातावरण दम घोटने और साँस रोकने वाला मालूम हुआ। बाद में मैसूर और त्रावणकोर की सरकारों ने उतनी नागरिक स्वतन्त्रता और राजनैतिक कार्यों की सुविधा भी छीन ली जो उन्होंने पहले दे रक्खी थी।

मैसूर रियासत के बंगलोर शहर में, एक बड़े मजमे के बीच, मैंने लोहे के एक ऊंचे खम्भे पर राष्ट्रीय झण्डा फह-राया था। मेरे जाने के थोड़े दिनों बाद ही वह खम्भा तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया और मैसूर-सरकार ने झण्डे का प्रदर्शन जुर्म करार दे दिया। मैंने जिस झण्डे को फहराया था उसकी इतनी खराबी और बेइज्जती होने से मुझे बड़ा रंज हुआ।

आज त्रावणकोर में कांग्रेस ही ग़ैरकानूनी संस्था करार दे दी गयी है और कांग्रेस का मेम्बर भी कोई नहीं बन सकता, हालांकि ब्रिटिश भारत में सविनय-भंग रुक जाने के बाद से

वह कानूनी हो गई है। इस तरह मैसूर और त्रावणकोर दोनों मामूली शान्तिपूर्ण राजनैतिक हलचल को भी कुचल रही हैं और उन्होंने वे सुभीते भी छीन लिये हैं जो पहले दे रक्खे थे। ये रियासतें पीछे हट रही हैं; किन्तु हैदराबाद को पीछे जाने या सुविधाएं छीनने की ज़रूरत ही नहीं महसूस हुई, क्योंकि वह आगे कभी बढ़ी ही न थी और न उसने इस किस्म की कोई सुविधाएं दी थीं। हैदराबाद में राजनैतिक सभाएं नहीं होतीं और सामाजिक और धार्मिक सभाएं भी सन्देह की दृष्टि से देखी जाती हैं. उनके लिए भी खास इजाजत लेनी पड़ती है। वहां कोई भी अच्छे अखबार नहीं निकलते और बाहर से बुराई के कीटाणुओं को न आने देने के लिए हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों में छपने वाले बहुत-से अखबारों की रियासत में रोक करदी गयी है। बाहर के असर से दूर रहने की यह नीति इतनी सख्त है कि नरम नीति क अखबारों की भी वहां मुमानियत है।

कोचीन में हम 'सफ़ेद यहूदी' कहानेवाले लोगों का मुहल्ला देखने गये और उनके पुराने मन्दिर में उनकी एक प्रकार की पूजा देखी। यह छोटा-सा समाज बहुत प्राचीन और बहुत अजीब है। इसकी तादाद घटती जा रही है। हमसे कहा गया कि कोचीन के जिस हिस्से में वे रहते हैं, वह जेरूसलम के समान था। निश्चय ही वह पुरानी बनावट का तो मालूम हुआ।

मलाबार के किनारे हमने कुछ ऐसे कस्बे देखे जिनमें ज्यादातर सीरियन मत के ईसाई बसे हुए थे। शायद इसका

बहुत कम लोगों को खयाल होगा कि ईसाई-धर्म हिन्दुस्तान में ईसा के बाद पहली सदी में ही आ गया था, जबकि यूरोप ने भी उसे नहीं ग्रहण किया था और दक्षिण हिन्दुस्तान में खूब मज़बूती से जम गया था। हालांकि इन ईसाइयों का बड़ा धर्माध्यक्ष सीरिया के एण्टियोक या और किसी कस्बे में है, मगर इनकी ईसाइयत ज्यादातर हिन्दुस्तानी चीज़ ही है और उसका बाहर से ज्यादा ताल्लुक नहीं है।

दक्षिण में नेस्टेरियन मत के लोगों की भी एक बस्ती देखकर मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ। उनके पादरी ने मुझे बताया कि उनकी तादाद दस हज़ार है। मेरा तो यह खयाल था कि ये लोग कभी के दूसरे मतों में मिल चुके होंगे और मुझे यह पता न था कि कभी वे हिन्दुस्तान में भी मौजूद थे। मगर मुझसे कहा गया कि एक समय हिन्दुस्तान में उसके अनुयायी बहुत थे और वे उत्तर में बनारस तक फैले हुए थे।

हम हैदराबाद खासकर श्रीमती सरोजिनी नायडू और उनकी लड़कियों पद्मजा और लीलामणि से मिलने गये थे। जिन दिनों हम उनके यहां ठहरे हुए थे, एक बार मेरी पत्नी से मिलने के लिए कुछ पर्दानशीन स्त्रियां उन्हींके मकान पर इकट्ठी हो गईं और शायद कमला ने उनके सामने भाषण दिया। उसका भाषण सम्भवतः पुरुषों के बनाये हुए कानूनों और रिवाजों के खिलाफ स्त्रियों के युद्ध के (जो उसका एक खास प्यारा विषय था) बारे में था और उसने स्त्रियों से कहा कि वे पुरुषों से बहुत न नबें। इसके दो या तीन हफ्ते बाद इसका एक बड़ा दिलचस्प नतीजा निकला।

एक परेशान हुए पति ने हैदराबाद से कमला को खत लिखा कि आपके यहां आने के बाद से मेरी पत्नी का बर्ताव अजीब हो गया है। पहले की तरह वह मेरी बात नहीं सुनती, न मेरी बात मानती है; बल्कि मुझसे बहस करती है और कभी-कभी सख्त रुख भी अख्तियार कर लेती है।

बम्बई से लंका को रवाना होने के सात हफ्ते बाद हम फिर बम्बई आ गये और मैं फौरन ही कांग्रेस की राजनीति के भंवर में कूद पड़ा।

: ११ :

जेल में जीव-जन्तु

कोई साढ़े चौदह महीने तक में देहरादून-जेल की अपनी छोटी-सी कोठरी मे रहा और मुझे ऐसा लगने लगा जैसे मैं उसीका एक हिस्सा हू। उसके प्रत्येक अंश से परिचित हो गया। उसकी सफेद दीवारों और खुरदरे फर्श पर हरेक निशान और गड्ढे और उसके शहतीरों पर लगे घुन के छेदों तक से मैं परिचित हो गया था। बाहर के छोटे से आगन मे उगे घास के छोटे-छोटे गुच्छे और पत्थर के टेढ़े-मेढ़े टुकड़े मेरे पुराने दोस्त-से लगते थे। मैं अपनी कोठरी में अकेला था, सो बात नही, क्योंकि वहां कितने ही ततैयों और बर्रों के छत्ते थे और कितनी ही छिपकलियों ने शहतीरों के पीछे अपना घर बना लिया था, जो शाम को अपने शिकार की तलाश में बाहर निकला करती थी। यदि विचार और भावनाएं भौतिक चीजों पर अपने चिन्ह छोड़ सकती हैं तो इस कोठरी की हवा का एक-एक कण उनसे जरूर भरा हुआ था और उस संकरी जगह में जो-जो भी चीजें थी उन सब पर वे अंकित हुए बिना न रहे होंगे।

कोठरियां तो मुझे दूसरे जेलों में इससे अच्छी मिली थीं, मगर देहरादून में मुझे एक विशेष लाभ मिला था, जो मेरे लिए बेशकीमत था। असली जेल एक बहुत छोटी जगह थी

और हम जेल की दीवारों के बाहर एक पुरानी हवालात में रखे गये थे। लेकिन थी यह अहाते में ही। यह इतनी छोटी थी कि उसमें आस-पास घूमने की कोई जगह न थी और इसलिए सुबह-शाम फाटक के सामने कोई सौ गज तक घूमने की छुट्टी थी। हम रहते तो थे जेल के अहाते में ही, लेकिन उन दीवारों के बाहर आ जाने से पर्वतमालाओं, खेतों और कुछ दूर पर आम सड़क के दृश्य दिखाई पड़ जाते थे। यह विशेष लाभ खास मुझे अकेले ही को नहीं मिला था, बल्कि देहरादून के हरेक 'ए' क्लास के कैदी को मिलता था। इसी तरह जेल की दीवार के बाहर लेकिन अहाते के अन्दर एक और छोटी इमारत थी जिसे यूरोपियन हवालात कहते थे। इसके चारों ओर कोई दीवार न थी जिससे कोठरी के अन्दर का आदमी पर्वत-श्रेणियों और बाहरी जीवन के सुन्दर दृश्य देख सकता था। इसमें जो यूरोपियन कैदी या दूसरे लोग रखे जाते उन्हें भी जेल के फाटक के पास सुबह-शाम घूमने की इजाजत थी।

केवल एक कैदी ही, जो लम्बे अर्से तक ऊंची-ऊंची दीवारों के अन्दर कैद रहा हो, बाहर सैर करने और इन मुक्त दृश्यों के देखने के असाधारण मानसिक मूल्य को समझ सकता है। मैं इस तरह बाहर घूमने का बड़ा शौक रखता था और बारिश में भी मैंने इस सिलसिले को नहीं छोड़ा था, जबकि जोर से पानी की झड़ी लगती थी और मुझे टखने-टखने तक पानी में चलना पड़ता था। यों तो किसी भी जगह बाहर सैर करने का मैंने सदा ही स्वागत किया होता, लेकिन यहां

तो अपने पड़ोसी गगनचुम्बी हिमालय का मनोहर दृश्य और भी खुशी को बढ़ानेवाला था, जिससे कि जेल की उदासी बहुत-कुछ दूर हो जाती थी। यह मेरी बहुत बड़ी खुशकिस्मती थी कि जब लम्बे अर्से तक मैंने कोई मुलाकात नही की थी और जब कितने ही महीने तक अकेला रहा, तब मैं इन प्यारे सुहावने पहाडों को एक-टक निहार सकता था। अपनी कोठरी से तो मै गिरिराज के दर्शन नहीं कर सकता था, मगर मेरे मन में सदैव ही उसका ध्यान रहता था और वह हमेशा समीप ही मालूम होता था। जान पडता था मानों अन्दर-ही-अन्दर हम दोनों के बीच एक घनिष्ठता बढ़ रही थी।

पक्षी-गण ये उड़-उड़ ऊंचे निकल गये हैं कितनी दूर!
जलद-खंड भी इसी तरह वह नभ-पथ से हो गया विलीन;
एकाकी मैं, सम्मुख मेरे पर्वतशृंग खड़ा है शान्त—
मै उसको, वह मुझे देखता दोनों ही हम थके कभी न।

मै समझता हूं कि इस कविता के रचयिता कवि ली ताई पो की तरह मैं यह तो नहीं कह सकता कि मैं पर्वतराज को देखते हुए कभी नहीं थकता था, फिर भी यह एक असाधारण दृश्य था और साधारणतया तो मैं उसकी निकटता से सदा बहुत सुख अनुभव करता था। पर्वतराज की दृढ़ता और स्थिरता मानों लाखों वर्षों के ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे तुच्छ दृष्टि से देखती थी और मेरे मन के तरह-तरह के उतार-चढ़ाव की दिल्लगी उड़ाती थी, मेरे अशान्त मन को सान्त्वना देती थी।

देहरादून में वसन्त ऋतु बड़ी सुहावनी लगी और नीचे के मैदानों की बनिस्बत ज्यादा समय तक रही। जाड़े ने प्रायः सब पेड़ों के पत्ते झाड़ दिये थे और वे बिलकुल नंग-धड़ंग हो गये थे। जेल के फाटक के सामने जो चार विशाल पीपल के पेड़ थे, उन्होंने भी, आश्चर्य तो देखिए, अपने करीब-करीब सब पत्ते गिरा दिये थे और पत्रविहीन तथा उदास होकर खड़े थे। परन्तु अब वसन्त-ऋतु आई और उसकी जीवन-दायिनी वायु ने उन्हें अनुप्राणित कर दिया, उनके एक-एक परमाणु को जीवन-सन्देश दिया। क्या पीपल और क्या दूसरे पेड़ों मे, एक हलचल मच गयी और उनके आसपास एक रहस्यमय वातावरण छा गया, जैसे परदे के अन्दर छिपे-छिपे कोई प्रक्रिया हो रही हो, और एक दिन सहसा मैं तमाम पेड़ों पर हरे-हरे अकुरों और कोंपलों को उझक-उझककर झांकते हुए देखकर चकित रह गया। वह बड़ा ही उल्लासमय और आनन्ददायी दृश्य था। फिर बडी तेजी के साथ उन पेड़ों में लाखों पत्ते निकल आये और वे सूर्य की किरणों मे चमकने और हवा के साथ अठखेलियां करने लगे। एक अंखुए से लेकर पत्ते तक का यह रूपान्तर कितना जल्दी और कितना आश्चर्यजनक होता है !

मैंने इससे पहले कभी नहीं देखा था कि आम के कोमल पत्ते पहले सुर्खी लिये गेहुंए रंग के होते है, ठीक वैसे ही जैसे काश्मीर के पहाड़ों पर शरदऋतु में हलके रंग की छाया छा जाती है, लेकिन जल्दी ही वे अपना रंग बदल कर हरे हो जाते हैं।

बारिश का वहां हमेशा ही स्वागत होता था, क्योंकि उससे ग्रीष्मकाल की गर्मी का अन्त आ जाता था। लेकिन अच्छी चीज़ की भी आखिर हद होती है। बाद में वह भी अखरने लगती है। और देहरादून को तो मानों इन्द्र देवता की प्रिय लीला-भूमि ही समझिए। बरसात शुरू होते ही पांच हफ्तों तक ऐसी झड़ी लगती है कि कोई पचास-साठ इंच पानी बरस जाता और उस छोटी-सी तंग जगह में खिड़कियों से आती हुई बौछार से अपने को बचाते हुए सिकुड़-मुकुड़ कर बैठे रहना अच्छा नहीं लगता था।

हां, शरद्ऋतु में फिर आनन्द उमड़ने लगता है और इसी तरह शिशिर में भी, उन दिनों को छोड़कर जबकि मेह बरसता हो। एक तरफ़ बिजली कड़क रही है, दूसरी तरफ वर्षा हो रही है और तीसरी तरफ चुभती हुई ठण्डी हवा बह रही है। ऐसी हालत में हर आदमी को उत्कंठा होती है कि रहने को एक अच्छी जगह हो, जिसमें सर्दी से बचाव हो सके और ज़रा आराम मिले। कभी-कभी बरफ़ का तूफ़ान आता और बड़े-बड़ ओले गिरते और वे टीन की छतों पर गिरते हुए बड़े ज़ोर की आवाज करते, मानों दनादन तोपें छूट रही हों।

एक दिन मुझे खासतौर पर याद है। वह २४ दिसम्बर १९३२ का दिन था। बड़े जोर की बिजली कड़क रही थी और दिन-भर पानी बरसता रहा। जाडा इतना सख्त कि कुछ मत पूछिए। शारीरिक कष्ट की दृष्टि से अपने सारे जेल-जीवन में मुझे बहुत कम ऐसे बुरे दिन देखने पड़े हैं।

लेकिन शाम को बादल एकाएक बिखर गये और जब मैंने देखा कि पर्वतश्रेणियों पर और पहाड़ियों पर बरफ़-ही-बरफ़ जमी हुई है तो मेरा सारा कष्ट न जाने कहां चला गया ! दूसरा दिन---बड़ा दिन---बड़ा मनोरम और स्वच्छ था और बरफ़ के आवरण में पर्वत-श्रेणियां बहुत ही सुन्दर दिखाई देती थीं ।

जब साधारण रोज़मर्रा के कामों से हम रोक दिये गये तो हमारा ध्यान प्राकृतिक लीला के दर्शन की ओर ज्यादा गया । जो-जो जीवधारी या कीड़े-मकोड़े हमारे सामने आते उनको हम ध्यान से देखते थे। अधिक ध्यान जाने पर मैंने देखा कि मेरी कोठरी में और बाहर के छोटे-से आगन में हर तरह के जीव-जन्तु रहते हैं । मैंने मन में कहा कि एक ओर मुझे देखो, जिसे अकेलेपन की शिकायत है और दूसरी ओर उस आंगन को देखो जो खाली या सुनसान मालूम होता है, लेकिन जिसमें जीवन उमड़ा पड़ता है । ये तमाम किस्म के रेंगनेवाले, सरकने वाले और उड़नेवाले जीवधारी मेरे काम में जरा भी दखल दिये बिना अपना जीवन बिताते थे तो मुझे क्या पड़ी थी कि मैं उनके जीवन में बाधा पहुंचाता ? लेकिन हां, खटमलों, मच्छरों और कुछ-कुछ मक्खियों से मेरी लड़ाई बराबर रहती थी । ततैयों और बर्रों को तो मैं सह लेता था । मेरी कोठरी में वे हजारों की तादाद में थे। हां, एक बार उनकी मेरी झड़प हो गयी थी, जब कि एक ततैये ने, शायद अनजान में, मुझे काट खाया था। मैंने गुस्सा होकर उन सबको निकाल देना

चाहा, कोशिश भी की, लेकिन अपने चन्दरोजा घरों को भी बचाने के लिए उन्होंने खूब डटकर सामना किया। छतों में शायद उनके अंडे थे। आखिर मैंने अपना इरादा छोड़ दिया और तय किया कि अगर वे मुझे न छेड़े तो मैं भी उन्हे आराम से रहने दूंगा। कोई एक साल तक उसके बाद मैं उन बर्रों और ततैयों के बीच रहा। मगर उन्होंने फिर कभी मुझपर हमला नहीं किया और हम दोनों एक-दूसरे का आदर करते रहे।

हां, चमगादड़ों को मैं पसन्द नहीं करता था; लेकिन उन्हे मैं मन मसोसकर बर्दाश्त करता था। वे संध्या के अन्धकार में चुपचाप उड़ जाते और आसमान की अंधेरी नीलिमा में उड़ते दिखाई पड़ते। वे बड़े मनहूस जीव लगते थे और मुझे उनसे बड़ी नफरत और कुछ भय-सा मालूम होता था। वे मेरे चेहरे के एक इंच दूरी से उड़ते और हमेशा मुझे डर मालूम होता कि कहीं मुझे झपट्टा न मार दें।

मैं चीटियों, दीमकों और दूसरे कीड़ों को घंटों देखता रहता था और छिपकलियों को भी। वे शाम को अपने शिकार चुपके से पकड़ लेतीं और अपनी दुम एक अजीब हंसी आने लायक ढंग से हिलाती हुई एक-दूसरे को लपेटती। मामूली तौर पर वे ततैयों को नहीं पकड़ती थीं; लेकिन दो बार मैंने देखा कि उन्होंने निहायत होशियारी और सावधानी से मुंह की तरफ से उनको चुपके से झपटकर पकड़ा। मै नहीं कह सकता कि उन्होंने जान-बूझकर उनके डंक को बचाया था या वह एक दैवयोग था।

इसके बाद अगर कही आसपास पेड़ हों तो झुंड-की झुंड गिलहरियां होती थीं। वे बहुत ढीठ और निःशंक होकरे हमारे बहुत पास आ जाती। लखनऊ जेल में मैं बहुत देर तक एक आसन बैठे-बैठे पढ़ा करता था। कभी-कभी कोई गिलहरी मेरे पैर पर चढ़कर मेरे घुटने पर बैठ जाती और चारों तरफ देखती। फिर वह मेरी आंखों की ओर देखती तब समझती कि मैं पेड़ या जो कुछ उसने समझा हो वह नहीं हूं। एक क्षण के लिए तो वह सहम जाती फिर, दुबक-कर भाग जाती। कभी-कभी गिलहरियों के बच्चे पेड़ से नीचे गिर पड़ते। उनकी मा उनके पीछे-पीछे आती, लपेट-कर उनका एक गोला बनाती और उनको लेजाकर सुरक्षित जगह में रख देती। कभी-कभी बच्चे खो जाते। मेरे एक साथी ने ऐसे तीन खोये हुए बच्चे सम्हालकर रक्खे थे। वे इतने नन्हे-नन्हे थे कि यह एक सवाल हो गया था कि उन्हें दाना कैसे दें? लेकिन यह सवाल बड़ी तरकीब से हल किया गया। फ़ाउंटेनपेन के फ़िलर में ज़रा सी रुई लगा दी। यह उनके लिए बढ़िया 'फ़ीडिंग बोतल' हो गई।

अल्मोड़ा की पहाड़ी जेल को छोड़कर और सब जेलों में जहां-जहां मैं गया कबूतर खूब मिले और हजारों की तादाद में वे शाम को उड़कर आकाश में छा जाते थे। कभी-कभी जेल के कर्मचारी उनका शिकार करके उनसे अपना पेट भी भरते थे। और हां, मैनाएं भी थी। वे तो सब जगह मिलती हैं। देहरादून में उनके एक जोड़े ने मेरी कोठरी के दरवाजे के ऊपर ही अपना घोंसला बनाया था। मैं उन्हें दाना दिया

करता। वे बहुत पालतू हो गई थीं और जब कभी उनके सुबह या शाम के दाने में देर हो जाती तो वे मेरे नजदीक आकर बैठ जाती और जोर-जोर से चीं-चीं करके खाना मांगतीं। उनके वे इशारे और उनकी वह अधीर पुकार देखते और सुनते ही बनती थी।

नैनी में हजारों तोते थे। उनमें से बहुतेरे तो मेरी बैरक की दीवार की दरारों में रहते थे। उनकी प्रणय-लीला आकर्षक वस्तु होती थी। वह देखनेवालों को मोहित कर लेती थी। कभी-कभी दो तोतों में एक तोती के लिए जोर की लड़ाई होती। तोती शांति के साथ उनके झगड़े के नतीजे का इंत-जार करती और विजेता पर अपनी प्रणयवृष्टि करने के लिए प्रस्तुत रहती थी।

देहरादून में तरह-तरह के पक्षी थे और उनके कलरव, जोर-जोर से चिचियाने, चहचहाने और टें-टें करने से एक अजीब समा बंध जाता था। और सबसे बढ़कर कोयल की दर्द-भरी कूक का तो पूछना ही क्या! बारिश में और उसके ठीक पहले पपीहा आता। सचमुच उसका लगातार 'पियू-पियू' की रटन सुनकर दंग रह जाना पड़ता था। चाहे दिन हो चाहे रात, चाहे धूप हो चाहे मेंह, उसकी रटन नहीं टूटती थी। इनमें से बहुतेरे पक्षियों को हम देख नहीं पाते थे, सिर्फ उनकी आवाज सुनाई पड़ती थी; क्योंकि हमारे छोटे-से आंगन में कोई पेड़ नहीं था। लेकिन गिद्ध और चीलें बड़ी धज के साथ आसमान में ऊंची उड़ती और उन्हें मैं देख सकता था। वे कभी एकदम झपट्टा मारकर नीचे उतर आतीं

और फिर हवा के झोंके के साथ ऊपर चढ़ जातीं। कभी-कभी जंगली बतख भी हमारे सिर पर मंडराया करते थे।

बरेली-जेल में बन्दरों की आबादी खासी थी। उनकी कूद-फांद, मुंह बनाना आदि हरकतें देखने लायक होती थीं। एक घटना का असर मेरे दिल पर रह गया है। एक बन्दर का बच्चा किसी तरह हमारी बैरक के घेरे के अन्दर आगया। वह दीवार की ऊंचाई तक उछल नहीं सकता था। वार्डर, कुछ नम्बरदारों और दूसरे कैदियों ने मिलकर उसे पकड़ा और उसके गले में एक छोटी-सी रस्सी बांध दी। दीवार पर से उसके (मैं समझता हूं) मां-बाप ने यह देखा और वे गुस्से से लाल हो गये। अचानक उनमें से एक बड़ा बन्दर नीचे कूदा और सीधा भीड़ में उस जगह गिरा जहां कि वह बच्चा था। निस्सन्देह यह बड़ी बहादुरी का काम था, क्योंकि वार्डर वगैरह सबके पास डण्डे और लाठियां थीं और वे उन्हें चारों तरफ घुमा रहे थे। उनकी संख्या भी काफी थी, लेकिन साहस की विजय हुई और मनुष्यों की वह भीड़ मारे डर के भाग निकली। उनके डण्डे और लाठियां वहीं पड़ी रह गई और बन्दर अपना बच्चा छुड़ा ले गया।

अक्सर ऐसे जीव-जन्तु भी दर्शन देते थे, जिनसे हम दूर रहना चाहते थे। बिच्छू हमारी कोठरियों में बहुत आया जाया करते थे। खासकर तब, जब बिजली जोरों से कड़का करती। ताज्जुब है कि मुझे किसी ने भी नहीं काटा; क्योंकि वे अक्सर बेढब जगह मिल जाया करते थे—मेरे बिछौने पर या कोई किताब उठाई उस पर भी। मैंने खास तौर पर एक काले

और जहरीले-से बिच्छू को कुछ दिन तक एक बोतल में रख छोड़ा था और मक्खियां वगैरह उसको खिलाया करता था। फिर मैंने उसे एक डोरे से बांधकर दीवार से लटका दिया। लेकिन वह किसी तरह भाग निकला। मुझे यह ख्वाहिश नहीं थी कि वह फिर कहीं घूमता-फिरता मुझसे मिलने आ जाय। इसलिए मैंने अपनी कोठरी को खूब साफ़ किया और चारों ओर उसे ढूंढ़ा, मगर कुछ पता न चला।

तीन-चार साप भी मेरी कोठरी में या उसके आसपास निकले थे। एक की खबर जेल के बाहर चली गई और अखबारों में मोटी-मोटी लाइनों में छापी गई। मगर सच पूछिये तो मैंने उस घटना को पसन्द किया था। जेल-जीवन योंही काफी रूखा और नीरस होता है और जब भी किसी तरह उसकी नीरसता को कोई चीज भंग करती है तो वह अच्छी ही लगती है। यह बात नहीं कि मैं सांपों को अच्छा समझता हूं या उनका स्वागत करता हूं। मगर हां, औरों की तरह मुझे उनसे डर नहीं लगता। बेशक, उनके काटने का तो मुझे डर रहता है और यदि किसी सांप को देखू तो उससे अपने को बचाऊं भी, लेकिन उन्हें देखकर मुझे अरुचि नहीं होती और न उनसे डरकर भागता ही हूं। हां, कनखजूरे से मुझे बहुत नफरत और डर लगता है। डर तो इतना नहीं मगर उसे देखकर स्वाभाविक नफरत होती है। कलकत्ते के अलीपुर जेल में कोई आधी रात को मैं सहसा जग पड़ा। ऐसा जान पड़ा कि कोई चीज मेरे पांव पर रेंग रही है। मैंने अपनी टार्च दबाई तो क्या देखा कि एक कनखजूरा बिस्तर पर है।

एकाएक और बड़ी तेजी से बिना आगा-पीछा सोचे मैंने बिस्तर से ऐसे जोर की छलांग मारी कि कोठरी की दीवार से टकराते-टकराते बचा। उस समय मैंने अच्छी तरह जाना कि रूस के प्रसिद्ध जीव-शास्त्री पेवलोव के 'रिफलेक्सेस'—स्वयं-स्फूर्त क्रियाएं क्या होती हैं।

देहरादून में एक नया जन्तु देखा, या यों कहूं कि ऐसा जन्तु देखा जो मेरे लिए अपरिचित था। मैं जेल के फाटक पर खड़ा हुआ जेलर से बातचीत कर रहा था कि इतने में बाहर से एक आदमी आया जो एक अजीब जन्तु लिए हुए था। जेलर ने उसे बुलवाया। मैंने देखा कि वह एक गोह और मगर के बीच का कोई जानवर है, जो दो फुट लम्बा था। उसके पंजे थे और छिलकेदार चमड़ी। वह भद्दा और कुडौल था और बहुत कुछ जीवित था। वह एक अजीब तरह से कुंडलाकार बना हुआ था और लानवाला उसे एक बांस में पिरोकर बड़ी खुशी से उठाता हुआ लाया था। वह उसे 'बो' कहता था। जब जेलर ने उससे पूछा कि इसका क्या करोगे तो उसने जोर से हंसकर कहा—भुज्जी—सालन—बनायेंगे। वह जंगली आदमी था। बाद को एफ० डब्ल्यू० चेंपियन की 'दि जंगल इन सनलाइट ऐण्ड शैडो' (धूप-छांह में जंगल) पढ़ने से मुझे पता लगा कि वह पेंगोलिन था।

क़ैदियों की, खासकर लम्बी सजावाले क़ैदियों की, भावनाओं को जेल में कोई भोजन नहीं मिलता। कभी-कभी वे जानवरों को पाल-पोसकर अपनी भावनाओं को तृप्त किया करते हैं। मामूली क़ैदी कोई जानवर नहीं रख सकता।

नम्बरदारों को उनसे ज्यादा आजादी रहती है और जेल के कर्मचारी उनके लिए एतराज नहीं करते। आमतौर पर वे गिलहरियाँ पालते हैं और सुनकर ताज्जुब होगा कि नेवले भी। कुत्ते जेल में नहीं आने दिये जाते, मगर बिल्ली को, जान पड़ता है, उत्साहित किया जाता है। एक छोटी पूसी ने मुझसे दोस्ती कर ली थी। वह एक जेल-अफसर की थी। जब उसका तबादला हुआ तो वह उसे अपने साथ ले गया। मुझे उसका अभाव खलता रहा। हालाँकि जेल में कुत्तों की इजाज़त नहीं है, लेकिन देहरादून में इत्तफ़ाक से कुत्तों के साथ भी मेरा नाता हो गया था। एक जेल-अफसर एक कुतिया लाये थे। बाद को उनका तबादला होगया और वह उसे वहीं छोड़ गये। बेचारी बे-घर की होकर इधर-उधर घूमती रही और पुलों और मोरियों में रहती हुई वार्डरों के दिये टुकड़े खाकर अपने दिन काटती थी। वह प्रायः भूखों मरती थी। मैं जेल के बाहर हवालात में रहता था। वह मेरे पास रोटी के लिए आया करती थी। मैं उसे रोज खाना खिलाने लगा। उसने एक मोरी में बच्चे दिये। कुछ तो और लोग ले गये मगर तीन बच रहे और मैं उन्हें खाना देता रहा। इसमें से एक पिल्ली बीमार हो गई। बुरी तरह छटपटाती थी। उसे देखकर मुझे बड़ी तकलीफ होती थी। मैंने बड़ी चिन्ता के साथ उसकी शुश्रूषा की और रात को कभी-कभी तो १०–१२ बार मुझे उठकर उसको सम्हालना पड़ता था। वह बच गई और मुझे इस बात पर खुशी हुई कि मेरी तीमारदारी काम आ गई।

बाहर की अपेक्षा जेल में जानवरों से मेरा ज्यादा साबक़ा

पड़ा। मुझे कुत्तों का बड़ा शौक रहा है और घर पर कुछ कुत्ते पाले भी थे, मगर दूसरे कामों में लगे रहने की वजह से उनकी अच्छी तरह सम्हाल न कर सका। जेल में मैं उनके साथ के लिए उनका कृतज्ञ था। हिन्दुस्तानी आमतौर पर घर में जानवर नहीं पालते। यह ध्यान देने लायक बात है कि जीव-दया के सिद्धांत के अनुयायी होते हुए भी वे अक्सर उनकी अवहेलना करते हैं, यहा तक कि गाय के साथ भी, जो हिन्दुओं को बहुत प्रिय और पूज्य है और जो अक्सर दंगों का कारण बनती है, दया का बर्ताव नहीं होता। मानों पूजाभाव और दयाभाव दोनों का साथ नहीं हो सकता।

भिन्न-भिन्न देशवालों ने भिन्न-भिन्न पशु-पक्षियों को अपनी महत्वाकांक्षा या अपने चारित्र्य का प्रतीक बनाया है। उकाब संयुक्तराज्य अमेरिका और जर्मनी का, सिंह और 'बुलडॉग' इंग्लैण्ड का, लड़ते हुए मुर्गे फ्रांस का और भालू पुराने रूस का प्रतीक है। सवाल यह है कि वे संरक्षक पशु-पक्षी राष्ट्रीय चारित्र्य को किस तरफ ले जायंगे? इनमें से ज्यादातर तो आक्रमणकारी, लड़ाकू और शिकारी जानवर हैं। ऐसी दशा में यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि जो लोग इन नमूनों को सामने रखकर अपना जीवन-निर्माण करते हैं वे जान-बूझकर अपना स्वभाव वैसा ही बनाते हैं, आक्रामक रुख अख्तियार करते हैं, दूसरों पर गुर्राते हैं, गरजते हैं और झपट पड़ते हैं। और यह भी आश्चर्य की बात नहीं है कि हिन्दू नरम और अहिंसक हैं; क्योंकि उनका आदर्श पशु है गाय।

: १२ :

मैं कब पढ़ता हूँ ?

मेरे मित्र मुझसे अक्सर पूछते हैं—"भला तुम पढ़ते कब हो ?" मेरी जिन्दगी तरह-तरह की हलचलों से काफी शराबोर मालूम पड़ती है, जिनमें से कुछ तो शायद उपयोगी होती हैं, दूसरी ऐसी कि जिनकी उपयोगिता संदिग्ध रहती है। जब सर-दर्दी से भरे हुए राजनीति के काम में हमारी जवानी खप जाती है और हमारे दिन-रात सब उसीमें चले जाते हैं, जो अपेक्षाकृत अच्छी अवस्था में इससे सुखद कामों मे लगते, तब किताबों से नाता जोड़ उनके आकर्षणयुक्त जगत में रहना आसान नही है। मगर इस भयंकर चक्कर में भी मैं रात के वक्त ऐसी कोई किताब पढ़ने के लिए थोड़ा-सा वक्त निकालने की कोशिश करता हूं जो राजनीति से बिलकुल दूर हो। लेकिन मेरा बहुत-कुछ पढ़ना, इस विशाल देश का इधर से उधर सफर करते हुए, रेल मे ही होता है।

रेल का तीसरे या डयोढ़े दर्जे का डब्बा ऐसा नहीं होता कि उसमें लिखा-पढ़ा या कोई काम किया जा सके; लेकिन अपने साथी-मुसाफिरों से सदा ही मिलनेवाले मित्रता के व्यवहार और रेलवे अधिकारियों की कृपा से हालत बदल जाती है और मुझे भय है कि मैं यह दावा नहीं कर सकता

कि ऐसे सफर में होनेवाली सब असुविधाओं का मुझे अनुभव है, क्योंकि दूसरे लोग इस बात पर जोर देते हैं कि मैं आराम से बैठूं और दूसरी ऐसी मेहरबानियां करते हैं, जिससे मेरे सफर में मुझे सुखद मानवता का स्पर्श हो जाता है। यह बात नहीं कि मुझे असुविधा से कोई प्रेम है या मैं जान-बूझकर उसे मोल लेना चाहता हूं। तीसरे दर्जे में मैं जो सफर करता हूं, वह भी इसलिए नहीं कि उसमें कोई बात या सिद्धांत निहित है, बल्कि असली बात तो रुपये, आने, पाई की है। तीसरे दर्जे के और दूसरे दर्जे के किराये में इतना ज्यादा फर्क है कि अत्यन्त आवश्यक हो जाने पर ही मैं दूसरे दर्जे के सफर की शौकीनी करने का साहस करता हूं।

पुराने दिनों में कोई एक दर्जन साल पहले, सफर करते हुए मैं बहुत-कुछ लिखा करता था, खासकर कांग्रेस-कार्य से संबंधित पत्र सफर में ही लिखता था। यहां तक कि मुख्तलिफ रेलों में सफर का बार-बार काम पड़ते रहने से उनकी अच्छाई-बुराई का निर्णय मैं इसी बात से करने लग गया कि लिखने की सुविधा उनमें से किसमें ज्यादा है। मेरा ख्याल है कि ईस्ट इंडियन रेलवे को मैंने पहला नम्बर दिया था, नार्थ वेस्टर्न रेलवे भी ठीक थी, लेकिन जी. आई. पी. रेलवे निश्चित रूप से बुरी थी और बुरी तरह से हिला डालती थी। ऐसा क्यों था, यह मैं नहीं जानता, न मैं यही जानता हूं कि विभिन्न रेलवे कंपनियों के किराये एक दूसरे से इतने अलग क्यों होने चाहिएं, जब कि वे सब-की-सब हैं सरकारी नियंत्रण में ही। यहां भी जाकर जी. आई. पी. रेलवे ही एक सबसे

ज्यादा खर्चीली रेलवे ठहरती है और यह मामूली वापसी टिकट भी जारी नहीं करती।

अब मैंने चलती गाड़ी में ज्यादा लिखने की आदत छोड़ दी है। शायद अब मेरा शरीर भी उतना लचीला नहीं रहा है और अपने को इस तरह नहीं रख सकता कि चलती गाड़ी में जो हिलना और उछलना होता है, उसको बर्दाश्त कर ले। फिर भी अपनी यात्राओं मे किताबों से भरकर संदूक मैं अपने साथ ले जाता हूं। उन सबको संभवतः मैं पढ़ नही सकता। उन्हें चाहे पढ़ा न जाय, फिर भी अपने आस-पास किताबों के मौजूद रहने से संतोष तो रहता ही है।

यह सफर लम्बा, ठेठ कराची तक होनेवाला था, जो मुझे अपनी हवाई यात्रा के बाद करीब-करीब यूरोप के आधे रास्ते जितना ही मालूम पड़ा। इसलिए मेरा संदूक जुदा-जुदा किस्म की किताबों से अच्छी तरह भरा हुआ था। जैसी कि मेरी आदत थी, ड्योढ़े दर्जे के डब्बे में मैं रवाना हुआ। लेकिन दूसरे दिन लाहौर में रास्ते की भयानक और भीषण गर्मी व धूल ने मेरे इरादे को ढीला कर दिया और मैंने दूसरे दर्जे के सफ़र की शौकीनी अख्तियार कर ली। इस तरह साधारणतः सुविधा और आराम के साथ मैंने सिंध के रेगिस्तान को पार किया। यह अच्छा ही हुआ जो मैंने ऐसा किया, क्योंकि अपने डब्बे को अछी तरह बन्द कर लेने पर भी उसमें जो दरारें वगैरह रह गई थीं, उनसे धूल के बादल-के-बादल अन्दर आए और हमारे ऊपर धूल की तह-की-तह जम गई; हमारे लिए सांस तक लेना भारी हो गया।

तीसरे दर्जे का ख्याल आने पर तो मैं कांप उठा। गर्मी वगैरह को तो मैं बर्दाश्त कर सकता हूं; लेकिन धूल का बर्दाश्त करना मेरे लिए बहुत मुश्किल है।

इस लम्बे सफर में जो किताबे मैंने पढ़ी उनमे एक एडवर्ड विल्सन के बारे में थी। वह एक असाधारण और स्मरणीय मनुष्य था, जो पशु-पक्षियों का प्रेमी था, ऐंटार्कटिक प्रदेश में स्काट का मरते दम तक साथी रहा था। और यह किताब मुझे एक दूसरे स्मरणीय मनुष्य से मिली थी, इसलिए इसका मुझे दुहरा आकर्षण था। ए. जी. फ्रेजर का यह उपहार था, पश्चिमी अफ्रीका के उस एचिमोटा कालेज में बहुत दिनों तक प्रिंसिपल रहे थे, जो कि उनके परिश्रम, सहानुभूति और प्रेम से निर्मित अफ्रिकन शिक्षा की श्रेष्ठ और अद्भुत यादगार है।

जैसे-जैसे हमारी गाड़ी आगे बढ़ती गई, सिंध का रेतीला और अटपटा रेगिस्तान गुजरता गया। इसी बीच मैंने ऐंटार्कटिक प्रदेशों में विपरीत परिस्थितियों से मनुष्य की बहादुराना लड़ाई, उस मानवी साहस की, जिसने खुद शक्तिमान प्रकृति पर ही विजय प्राप्त कर ली और ऐसी सहिष्णुता का हाल पढ़ा, जो करीब-करीब विश्वास से बाहर की ही चीज है। साथ ही हरेक संभवनीय दुर्भाग्य के मौके पर अपने को भूलकर खुशमिजाजी के साथ अपने साथियों के प्रति वफादार और भारी प्रयत्नशील रहने का भी हाल पढ़ा। और यह सब किस लिए? न तो संबंधित शक्तियों की किसी सुविधा के लिए और न किसी सार्वजनिक हित या विज्ञान के लाभ की ही

दृष्टि से। तब ? महज उस साहसिकता के कारण जो कि इन्सान में होती है—वह भावना जो कभी झुकना नहीं जानती, बल्कि हमेशा ऊंचे-ही-ऊंचे जाने की कोशिश करती है —वह वाणी कि जो आकाश से हमें सुनाई देती है। हम-में से ज्यादातर इस आवाज को बहरे कानों से सुनते हैं, लेकिन यह अच्छा है कि कुछ लोग इसको सुनते हैं और हमारी मौजूदा संतान को श्रेष्ठ बनाते हैं। उनके लिए जीवन एक निरन्तर चुनौती, एक दीर्घ साहसिकता और प्रयोगात्मक चीज है।

"I count life just a stuff to try the soul's strength on..."

ऐसा था वह एडवर्ड विल्सन और यह ठीक ही है कि दक्षिणी ध्रुव में पहुंचकर वह और उसके साथी उसी विस्तृत एंटार्कटिक प्रदेश में अंतिम विश्राम करने लगे, जहां लम्बी-लम्बी दिन-रातें होती हैं और गहरी खामोशी छाई रहती है। वहां बर्फ और तुषार के ढेरों में वे चिर-विश्राम कर रहे हैं और उनके ऊपर इन्सानी हाथ से यह आलेख किया हुआ है, जो उचित ही है :

"प्रयत्न, आकाक्षा और खोज मे लगे रहो। हिम्मत कभी न हारो।"

ध्रुवों को विजय किया जा चुका है, रेगिस्तानों की पैमा-यश हो चुकी है, ऊंचे-ऊंचे गिरि-शिखरों पर मनुष्य पहुंच गया है, लेकिन एवरेस्ट (गौरीशंकर) अभी भी अविजित होने का गर्वानुभव कर रहा है।

मगर मनुष्य सतत प्रयत्नशील है और एवरेस्ट को उसके आगे झुकना ही पड़ेगा; क्योंकि उसके दुबले-पतले शरीर में मस्तिष्क एक ऐसी चीज है, जो किसी बन्धन को नहीं मानती और उसमें ऐसी भावना है, जो पराजय को कभी स्वीकार नहीं करती। तब, रहा क्या ? जमीन, क्योंकि छोटी-छोटी और अद्भुत एवं सतत साहसिकता धीरे-धीरे इससे विदा होती जा रही मालूम पड़ती है। कहा तो यहां तक जाता है कि ध्रुव-प्रदेश से युद्ध शायद बहुत जल्दी ही एक साधारण घटना हो जायगी, पहाड़ों पर रस्सी के सहारे दौड़ते हुए चढ़ा जाने लगेगा और उनके शिखरों पर शानदार होटल खुलेंगे और तरह-तरह के सुन्दर बाजे रात की खामोशी और बर्फ की चिर नीरवता को भंग करेंगे, अधेड़ उम्र के आदमी ताश खेलते हुए इधर-उधर की गपशप करेंगे और नौजवान व बूढ़े बड़े जोरों से आनन्दोपभोग की खोज करेंगे।

इतने पर भी साहसियों के लिए साहस के काम हमेशा मौजूद रहते हैं। और अभी भी यह विशाल संसार उन्हीं का साथ देता है, जिनमें भावुकता और साहसिकता होती है, और तारे समुद्रों के पार उनका आवाहन करते हैं। जब कि जो लोग चाहें उनके लिए जीवन में साहसिकता वहीं मौजूद हो, तब क्या साहस दिखाने के लिए ध्रुवों पर या पहाड़ी रेगिस्तान में जाने की जरूरत है ? ओह ! अपने और अपने समाज के जीवन को हमने कैसा बना दिया है, अपने सामने मानव-भावना की स्वतंत्र वृद्धि एवं आनन्द और बहुलता के होते हुए भी हम भूखों मर रहे हैं। और पहले से कहीं रही गुलामी में हमने अपनी

भावनाओं को कुचल डाला है। हमें चाहिए कि भरसक इस हालत के बदलने की कोशिश करें, जिससे मानव-प्राणी अपनी महान विरासत के योग्य बने और अपने जीवन को सौंदर्य, आनंद एवं आध्यात्मिकता की बातों से संपन्न करे। जीवन में साहस से स्फूर्ति मिलती है और यही सबसे बड़ी साहसिकता है।

रेगिस्तान अंधेरे से ढका है। लेकिन गाड़ी अपने निश्चित लक्ष्य की ओर भागी जा रही है। इसी तरह शायद मानवता भी विघ्न-बाधाओं से लड़ती आगे बढ़ रही है। हालांकि रात अंधेरी है और लक्ष्य हमें दिखाई नहीं पड़ रहा है, शीघ्र ही सबेरा होगा और रेगिस्तान के बजाय नीला समुद्र हमारा स्वागत करेगा।

जुलाई, १९३६

: १३ :

हमारा साहित्य

दो वर्ष से अधिक हुए, जब मैं कुछ महीनों के लि' जेल के बाहर आया था, तब मैं भाई शिवप्रसाद गुप्त से बनारस मिलने गया था। इस सिलसिले मे मुझे अवसर मिला कि मे कुछ मित्रों से, जो हिन्दी साहित्य से सम्बन्ध रखते हैं, मिलूं। इस मौके को मैंने खुशी से अपनाया। साहित्य के बारे में हम में कुछ चर्चा हुई। मैं डरते-डरते ही बोला था, क्योंकि मैं इस मामले में बहुत कम जानता था और इसलिए कुछ कहने का साहस भी नही रखता था। बाद में मैंने आश्चर्य के साथ सुना कि हमारी आपस की बातचीत कुछ अखबारों में किसी ने छपवा दी है। मैं नहीं जानता कि क्या छपा था, क्योंकि मैने उसे देखा नही। इसलिए मैं कह नहीं सकता कि वह सही था या गलत। फिर यह सुनने में आया कि हिन्दी के समाचारपत्र मुझसे बहुत नाराज हैं और बनारस की मेरी बातों पर बहुत बहस-मुबाहसा हो रहा है। मैं और कामों मे लगा था, इसलिए इधर ध्यान न दे सका और फिर जल्द ही दुबारा जेल चला गया।

मैंने उस समय, दो बरस पहले, क्या कहा था, उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं। उसमे कोई खास बात नहीं थी। न यह बात बहस तलब ही है कि मेरा हिन्दी-साहित्य का ज्ञान

कितना है। वह तो बहुत कम है। मैंने कुछ पुराना साहित्य पढ़ा है, कुछ नया। कुछ कोशिश की यह समझने की कि हिन्दी-साहित्य में आजकल क्या-क्या विचार-धाराएं चल रही हैं, क्या-क्या सवाल उसके सामने हैं, उसकी निगाह किधर है; लेकिन यह थोडा-सा पढ़ना या सोचना मुझे इस बात का अधिकार नही देता कि मैं जानकारों के सामने अपनी अन-जान आवाज उठाऊं। ऐसी हालत में अगर मैं औरों की नुक्ताचीनी की कोशिश करू तो वह सरासर मेरी नालायकी होगी।

फिर भी मै बेहयाई से हिम्मत करता हूं कि इस विषय पर कुछ शब्द लिखू—इस आशा से कि औरो की मदद से मैं कुछ सीख सकू।

कुछ दिन हुए 'विशाल भारत' के एक लेख में मैंने यह पढा—"बहुत लोगो की दृष्टि से इसका (हिन्दी का) साहित्य काफी ऊंचा हो गया है। इसके लेखकों की तुलना शेक्स-पियर से लेकर टालसटाय और बर्नार्डशा तक समय-समय पर होती रही है।" यह पढ़कर मुझे खुशी हुई। मुझे मालूम था कि हिन्दी-साहित्य मे एक नई जाग्रति हुई है और वह आगे बढ़ रहा है; लेकिन मैं नही जानता था कि वह इतनी दूर तक पहुंच गया है। मेरी प्रबल इच्छा हुई कि मैं इन शेक्स-पियर इत्यादि के तुल्य लेखकों को पढ़ूं और इस बारे में मैंने कुछ मित्रों से अनुरोध किया कि वे मुझे यह पुस्तकें भेजें। कुछ किताबें मेरे पास आई भी और मैंने उनको पढा भी। लेकिन मेरी आशाएं पूरी नही हुई। शायद ठीक पुस्तकें मेरे

पास न आई हों और इस बारे में और लोग मेरी सहायता कर सकें। अगर 'विशाल भारत' के संपादक महोदय और अन्य हिन्दी-साहित्य के पंडित एक सौ या पचास चुनी हुई किताबों की फहरिस्त बना दें तो बहुतों को उससे सहायता मिलेगी। यह पुस्तकें ऐसी हों, जो पिछले तीस या पैंतीस वर्षों में लिखी गई हों, यानी इस बीसवीं शताब्दी की हों।

साहित्य क्या चीज़ है, इस पर हर भाषा में बहस रहती है और बहुत तरह की रायें होती हैं। इस बहस में मैं पड़ना नहीं चाहता, लेकिन अधिकतर लोग कदाचित यह मान लेंगे कि उसमें दो प्रश्न उठते हैं—एक विषय का और दूसरा उसके प्रतिपादन का। साहित्य में दोनों ही की जरूरत है।

मेरी पहली कठिनाई यह है कि जिन विषयों में मुझे दिलचस्पी है, उनमें मुझे अभी तक हिन्दी में बहुत कम पुस्तकें मिली हैं। मैं आजकल की दुनिया को समझना चाहता हूं। जो ऊपरी वाकयात होते हैं और जिनका हाल हम कुछ समाचार-पत्रों में पढ़ते हैं, मैं उनके पीछे देखना चाहता हूं ताकि मैं समझूं कि वे क्यों हुए; क्या-क्या अन्दरूनी ताकतें दुनिया के लोगों को इधर-उधर धकेल रही हैं; क्या-क्या खयाल उनके दिमागों में भरे हुए हैं; क्या-क्या भावनाएं उनके दिलों में हैं, कौन-कौन-से बड़े-बड़े सवाल संसार-भर को और हमारे देश को परेशान कर रहे हैं? मेरा दिमाग उस परेशानी में खुद फंसा है, उन सवालों के जवाब ढूंढ़ता रहता है, उन कठिन गांठों को खोलने की कोशिश करता है। इसलिए हर समय रोशनी की तलाश रहती है, जो अंधेरे में उजाला

करे और ठीक रास्ता दिखाये, जिसपर हम इतमीनान से आगे बढ़ें।

दुनिया को समझने के लिए सिर्फ राजनीति को समझना काफी नहीं है। राजनीति तो अधिकतर एक कठपुतली का तमाशा है, जिसके पीछे कुछ ऐसी छिपी, और अकसर खुली, शक्तिया हैं, जो उसको चलाती हैं। अर्थशास्त्र के सब पहलुओं को जानने की आवश्यकता हो जाती है और आजकल जो सोने, चांदी और नाना प्रकार के सिक्कों ने अजीब खेल कर रखा है, बड़ी-बड़ी मशीनों और कारखानों ने दुनिया में जो जबरदस्त क्रांति पैदा की है, राष्ट्रवाद, लोकतन्त्रवाद, पूजीवाद, साम्यवाद इत्यादि— यह सब क्या हैं और दुनिया पर क्या असर डाल रहे हैं? अन्तर्राष्ट्रीयता का भाव कितना बढ़ रहा है? यह सब मामूली सवाल हैं, जिनपर बहुतेरे मनुष्य कुछ-न-कुछ कहने को या लिखने को तैयार हो जायं; लेकिन मोटी बातें दोहराने से ज्यादा फायदा नहीं होता। अगर हम असल मे इन सबको समझना चाहते हैं तो हमें गहराई में जाना पड़ेगा और ऐसी पुस्तकें हमें चाहिए, जो उस गहराई तक ले जा सकें।

फिर यह भी आवश्यक हो जाता है कि हम और देशों का आधुनिक हाल पढ़ें और जानें—यूरोप के देशों का, रूस का, अमेरिका का, चीन का, जापान का, मिस्र इत्यादि का। किसी भी देश का आजकल का हाल समझना तबतक करीब-करीब असम्भव है, जबतक हम उसका पुराना हाल न जानें। जो प्रश्न इस समय हमारे सामने हैं, उन सब की जड़ पुराने

ज़माने में है। इसलिए इतिहास जानना हमारे लिए जरूरी हो जाता है और इतिहास भी केवल एक या दो देशों का नही, बल्कि सारी दुनिया का।

हमें यह भी याद रखना है कि आजकल की दुनिया और हमारा सारा जीवन विज्ञान से बधा हुआ है। इसलिए विज्ञान के सिद्धात और उसके नये विचार तो हमें समझने ही है। मुझे इन बातों में बहुत दिलचस्पी रही है खासकर भौतिक विज्ञान और उसके नये खयालात में, जैसे रिलेटिविटी और क्वान्टम थ्योरी (Relativity and Quantum theory) जीव-विज्ञान (Biology), समाज-विज्ञान (Sociology), मनो-विज्ञान (Psychology) और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण (Psycho-analysis)।

इन सब विषयों पर आजकल यूरोप-अमेरिका में हजारो किताबें हर साल निकल रही है। उनमें बहुतेरी मामूली किस्म की हैं, कुछ फ़िज़ूल है; लेकिन एक काफी तादाद ऊंचे दर्जे की भी है। विदेशी अखबारों और पत्रिकाओं में भी इन मजमूनों पर बहुत अच्छे लेख निकला करते हैं। मै आशा करता हूं कि हिन्द में इन विषयों पर जो नई पुस्तकें है, उनकी फेहरिस्त तैयार की जायगी। यह ज़ाहिर है कि स्कूल और कालेज के विद्यार्थियों के लिए जो किताबे इम्तहान पास करने को लिखी जाती है, उनकी इस फेहरिस्त मे आवश्यकता नहीं।

मैंने कविता, उपन्यास और नाटक का या ऐसी ही और पुस्तकों का, जिनको शायद शुद्ध साहित्य कहा जाय, ज़िक्र

ऊपर नहीं किया है। ऐसी पुस्तकों के नाम भी फेहरिस्त में होने जरूरी हैं। मैंने कुछ ऐसी किताबें पढ़ी भी हैं और मुझे पसन्द भी आई हैं। कविताएं अक्सर बहुत अच्छी होती हैं, बहुत मीठी होती हैं; लेकिन कभी-कभी मिठास इस कदर होती है कि उसमें शीरे की चिपक-सी आ जाती है। विषय अधिकतर चन्द चुने हुए ही होते हैं और उनके बाहर जाना कम होता है। मेरे दुर्भाग्य से मुझे कोई ऐसा उपन्यास अभी तक नहीं मिला है, जिसका मुकाबिला मैं मशहूर विदेशी उपन्यासो से करूं। नाटक मैंने अभी तक कोई माकूल नहीं पाया। मेरे अज्ञान से और मेरे अपरिचित होने से तो कोई नतीजा नही निकलता, सिवा इसके कि मेरी तालीम में कसर है। इस कसर को मैं औरों की सहायता से कुछ पूरा किया चाहता हूं।

एक और बात में मैं मदद चाहता हूं, वह यह कि हिन्दी-संसार में आजकल कौन-कौन विचार-धाराएं है? हिन्दी पत्रिकाओं और पुस्तकों से यह अवश्य मालूम होता है कि साहित्य में एक जागृति है और एक ढूंढ़ है; लेकिन फिर भी उनसे इस प्रश्न का साफ उत्तर नहीं मिला। मैं समझता था कि साहित्य-सम्मेलन में इन बातों पर विचार होगा। मै नहीं जानता कि उसमें कहां तक विचार हुआ। १९३५ के अधिवेशन में, समाचारपत्रों से तो यही मालूम होता था, सबसे बड़ा प्रश्न एक लाख रुपये की थैली का था। इसलिए मैं अभी तक इस जरूरी मसले को, जो कि किसी भी साहित्य की जान है, नहीं समझ सका, और यह मेरे लिए शर्म की

बात है। अन्य देशों के और अन्य भाषाओं के बारे में मैं कुछ-न-कुछ कह सकता हूं कि वहां साहित्य के प्रश्नों पर क्या ग़ौर और विचार-विनिमय आजकाल हो रहा है—अमेरिका मे, इंग्लैंड में, फ्रान्स में, रूस में, जर्मनी में, चीन में, टर्की में। लेकिन अपने देश और अपनी मातृभाषा के बारे मे मैं यह नहीं कह सकता।

मैं अपना मतलब साफ कर दूं यह दिखाकर कि और देशों में क्या-क्या प्रश्न साहित्य-संसार को परेशान कर रहे हैं। सब देशों में साहित्यकारों की बहुत-सी सभाएं और सम्मेलन हैं—बहुतेरे राष्ट्रीय, कुछ अन्तर्राष्ट्रीय। कुछ अरसा हुआ, जून सन् १९३५ में पेरिस में एक बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य-सम्मेलन हुआ था, जिसमें सारे यूरोप और अमेरिका से लोग आये थे। उसका नाम था—'International Congress of Writers for the Defence of Culture.' (संस्कृति की रक्षा के लिए लेखकों की अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस)। इस कांग्रेस की विषय-सूची से मालूम होता है कि यूरोप और अमेरिका के साहित्य-संसार में किन प्रश्नों पर ग़ौर हो रहा है। इस विषय-सूची की एक नक़ल मैं नीचे देता हूं। मैंने इसे अंगरेजी ही में दे दिया है। इसलिए कि मैं उसका ठीक अनुवाद नहीं कर सकता। मैं आशा करता हूं कि सम्पादकजी अनुवाद कर लेंगे।

सूची

Outline of subjects prepared for discussion at the International Congress of Writers for

the Defence of Culture held in Paris in June 1935.

I. The Cvltural Heritage.

(सास्कृतिक उत्तराधिकार)

Tradition and invention. (परम्परा और आविष्कार)
The recovery and protection of cultural values. (सास्कृतिक निधि की रक्षा और पुनरुद्धार)
The future of culture. (संस्कृति का भविष्य)

II. Humanism

(मानवता)

Humanism and Nationality. (मानवता और राष्ट्रीयता)
Humanism and individual. (मानवता और व्यक्ति)
Proletarian humanism. (श्रमजीवी मानवता)
Man an l the machine. (मनुष्य और मशीन)
Man and leisure. (मनुष्य और अवकाश)
The writer and the workers. (लेखक और मजदूर)

.III. Nation and Culture.

(राष्ट्र और संस्कृति)

The relations among national cultures. (राष्ट्रीय संस्कृतियो के पारस्परिक सम्बन्ध)
National cultures and humanism. (राष्ट्रीय संस्कृतियाँ और मानवता)
National cultures and social classes. (राष्ट्रीय संस्कृतिया और सामाजिक वर्ग)
Class and culture. (वर्ग और संस्कृति)
The literary expression of national minorities.

(राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों का साहित्यिक आत्म-प्रकाश)

Nationalism as opposed to national realities. (राष्ट्रीय वास्तविकता के विरुद्ध राष्ट्रीयता)

War and culture. (युद्ध और संस्कृति)

The literature of colonial people. (औपनिवेशिक जातियों का साहित्य)

The broad public and the 'initiated' (साधारण जनता और 'दीक्षित' लोग)

Isolated figures and precursors (विच्छिन्न मूर्तियाँ और अग्रदूत)

Translations. (अनुवाद)

IV. The Individual

(व्यक्ति)

The relation between the writer and society—opposition or agreement? (सामाजिक विरोध या समर्थन में लेखक और समाज का सम्बन्ध)

The individual as an expression of his class. (अपने वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में व्यक्ति)

V. The Dignity of Thought

(विचारों की मर्यादा

The nature of the liberty of the artists. (कलाकारों की स्वतन्त्रता का ढंग)

Liberty of expression. (वाणी की स्वतंत्रता)

Direct and indirect forms of censorship. (प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सेंसरशिप)

Writers in exile. (निर्वासित लेखक)

Illegal literature. (गैरकानूनी साहित्य)

VI. The Writer's Role in Society
(समाज मे लेखक का भाग)

His relation with the public. (जनता के साथ उसका सम्बन्ध)

The lessons of Soviet literature. (सोवियट साहित्य की शिक्षाएं)

Literature and the proletariat (साहित्य और श्रमजीवी)

Writers and youth. (लेखक और नवयुवक)

The critical value of literature. (साहित्य का आलोचनात्मक मूल्य)

The positive value of literature. (साहित्य का निरपेक्ष मूल्य)

Literature as a mirror and criticism of society. (समाज के दर्पण और आलोचना के रूप मे साहित्य)

VII. Literary Creation
(साहित्यिक रचना)

The influence of social change on artistic forms. (सामाजिक परिवर्तनों का कला के ढंगों पर प्रभाव)

Value of continuity and values of discontinuity. (साहित्य में निरवच्छिन्नता और विच्छिन्नता का मूल्य)

The different forms of literary activity. (साहित्यिक कार्य के विविध रूप)

The social role of literature. (साहित्य का सामाजिक कार्य)

Imitation or creation of types. (विशेष प्रकार के चरित्रों की सृष्टि और उसकी नकल)

The creation of heroes (नायकों की सृष्टि)

The new technical means of expression (साहित्य के प्रतिपादन में नवीन टेकनिकल साधन)

VIII. Writers & the Defense of Culture (लेखक और संस्कृति की रक्षा)

How their efforts can be co-ordinated (लेखकों के प्रयत्नों में कैसे साम्य पैदा किया जा सकता है)

इस विषय-सूची के मज़मूनों पर हिन्दी के साहित्याचार्यों की क्या राय है, यह जानकर मुझे और बहुत से लोगों को फ़ायदा होगा। मैं आशा करता हू कि वे अपनी राय `गे।

जुलाई, १९३५

: १४ :

साहित्य की बुनियाद

हम लोग जो राजनीतिक क्षेत्र में काम करते हैं, वे देश के और जरूरी पहलू अक्सर भूल जाते हैं। किसी देश की असल जागति उसके नये साहित्य से मालूम होती है; क्योंकि उसमें जनता के नये-नये विचार और उमंगें निकलती हैं। जो जाति खाली पुराने साहित्य पर रहती है वह चाहे कितनी ही ऊची क्यों हो, वह पूरी तौर से जीवित नहीं है और आगे नहीं बढ़ सकती। इसलिए अगर हिन्दुस्तान की आजकल को हालत का अन्दाजा किया जाय तो हमें उसके नये साहित्य को जो इस देश की भिन्न-भिन्न भाषाओं में है, देखना चाहिए। इससे मालूम होता है कि एक नई जागृति हमारी सभी भाषाओं मे हैं। हिन्दी, उर्दू, बंगला, गुजराती, मराठी इत्यादि। लेकिन फिर भी आजकल के क्रान्तिकारी समय में वह कुछ कम मालूम होती है। अभी तक हमने कोई बहुत अच्छे राष्ट्रीय गाने भी नही पैदा किये जो कि ऐसे समय में अक्सर पैदा होते हैं। चीन में भयानक लड़ाई हो रही है और बीस बरस से वहां की हालत बहुत खराब है, फिर भी वहां के नये साहित्य ने बहुत तरक्की की है और वह शानदार है। इसी से असल अन्दाजा चीन के लोगों की अन्दरूनी शक्ति का है और हमें विश्वास होता है कि वह

किसी बाहरी हमले से दब नहीं सकती। इसलिए यह हमारे लिए जरूरी है कि हम अपने साहित्य की तरफ काफी ध्यान दें और उसको एक नया रूप दें, जिससे वह नये हिन्दुस्तान की हुलिया का एक आइना हो। हम हिन्दी और उर्दू या बंगला या किसी और भाषा की फिजूल बहसों मे न पड़ें, बल्कि सभी की उन्नति की कोशिश करें। एक के बढ़ने से दूसरी भी बढ़ेगी। मुझे खुशी है कि उर्दू एकेडेमी उर्दू का यह काम करती है। इसी तरह से हिन्दी-साहित्य के लिए भी काम करना चाहिए। और दोनों को मिलकर हिन्दुस्तानी साहित्य की मजबूत बुनियाद डालनी चाहिए। इस बात की हमें बहुत फिक्र नही करनी चाहिए कि हिन्दी और उर्दू मे इस समय कितना फर्क है, अगर दोनों का उद्देश्य एक है–यानी आम जनता की भाषा की तरक्की—तब तो दोनों करीब आती जायंगी। बुनियादी बात यही है कि हमारे साहित्यकार इस बात को याद रखें कि उनको थोड़े-से आदमियों के लिए नही लिखना है; बल्कि आम जनता के लिए लिखना है। तब उनकी भाषा सरल होगी और देश की असली संस्कृति की ताकत उसमें आ जायगी। वह जमाना जाता रहा जब कि किसी देश की संस्कृति थोड़े-से ऊपर के आदमियों की थी। अब वह आम जनता की होती जाती है और वही साहित्य बढ़ेगा जो इस बात को सामने रखता है।

मुझे खुशी है कि दिल्ली में हिंदी-परिषद् की बैठक होने वाली है।[1] मै आशा करता हूं कि इसमें हमारे साहित्यकार

१. यह परिषद् १४, १५ और १६ अप्रैल १९३६ को हुई थी।

सब मिलकर ऐसे रास्ते निकालेंगे, जिससे हिन्दी साहित्य और मजबूत हो और फैले। उनका काम किसी और साहित्य के विरोध में नहीं है, बल्कि उनके सहयोग से आगे बढ़ना है। उर्दू हिन्दी के बहुत करीब है और इन दोनों का नाता तो पास का रहेगा ही। लेकिन हमें तो विदेशी साहित्यों से भी फायदा उठाना है; क्योंकि साहित्य की तरक्की विदेशों में बहुत हुई है और उससे हम बहुत-कुछ सीख सकते हैं।

आजकल की दुनिया में चारों तरफ लड़ाई, दंगा, फसाद हो रहा है। हिन्दुस्तान में भी काफी फसाद है और तरह-तरह की बहसें पेश होती हैं। ऐसे मौके पर यह और भी आवश्यक होता है कि हम अपनी नई संस्कृति की ऐसी बुनियाद रखें, जिसमें आजकल की दुनिया के विचार जम सकें और जब हमारे सामने पेचीदा मसले आएं तो हम बहके-बहके न फिरें। संस्कृति को एक ऐसा पारस पत्थर होना चाहिए, जिससे हर चीज की आजमाइश हो सके। अगर किसी जाति के पास यह नहीं है तो वह दूर तक नहीं जा सकती। हमें अपने सांस्कृतिक मूल्य कायम करने हैं और उनको अपने साहित्य की और सभी काम की बुनियाद बनाना है।

अप्रैल, १९३९

: १५ :

शब्दों का अर्थ

एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना बहुत कठिन काम है और सच पूछिये तो ज़रा भी गहरी बातों का ठीक-ठीक अनुवाद हो ही नहीं सकता। किसी भाषा का क्या काम है? वह हमको सोचने में मदद करती है। भाषा तो एक तरह से जमे हुए विचार हैं। उसके द्वारा हवाई खयालात एक मूर्ति बन जाते हैं। उसका दूसरा काम यह है कि उसके ज़रिये हम अपने विचारों का इजहार कर सकें और उनको औरों तक पहुंचा सकें, दो या अधिक आदमियों में खयालात की आमदरफ्त हो। भाषा और भी कई तरह से काम में आती है, लेकिन इसमें इस समय हमें जाने की आवश्यकता नहीं है। एक शब्द या एक वाक्य हमारे दिमाग में किसी-न-किसी मूर्ति की शक्ल में आता है। मामूली सीधे-सादे शब्द जैसे मेज, कुर्सी, घोड़ा, हाथी आदि से, आसान और साफ मूर्तियां बनती हैं, और जब हम उनको कहते हैं तब सुनने वाले के दिमागमें भी अक्सर करीब-क़रीब वैसी ही मूर्तियाँ बन जाती हैं। इससे हम कह सकते हैं कि वे हमारे मानी समझ गए।

लेकिन जहाँ हम इन सीधे और आसान शब्दों से आगे बढ़े वहां फौरन पेचीदगी पैदा हो जाती है। एक मामूली वाक्य भी दिमाग में कई तसवीरें पैदा करता है, और यह सम्भव है कि

सुननेवाले के दिमाग में कुछ और ही तसवीरें पैदा हों। बहुत-कुछ दोनों की मानसिक शक्ति पर निर्भर है—उनकी पढ़ाई पर, उनके तजरुबे पर, उनके ज्ञान पर, उनकी प्रेरणाओं पर और उनकी भावनाओं पर। अब एक कदम और आगे बढ़िए और ऐसे शब्द लीजिए जो अमूर्त और पेचीदा हैं, जैसे सत्य, सौन्दर्य, अहिंसा, धर्म, मजहब इत्यादि। हम रोज़ सैकड़ों दफे इन शब्दों का प्रयोग करते हैं; लेकिन अगर हमको उनके मानी पूरी तौर पर समझाने पड़ें तो हमें काफी कठिनाई हो। हम यह देख सकते हैं कि ऐसे शब्द दो आदमियों के दिमाग में कभी एक-सी मूर्तियां या तसवीरें पैदा नहीं करेंगे। इसके मानी यह हैं कि हम अपने मानी दूसरे को नहीं समझा सके, हालांकि हम दोनों बात एक ही कहते हैं; पर दोनों का अर्थ अलग-अलग है। यह दिक्कतें बढ़ती जायंगी, जितने अधिक पेचीदा और अमूर्त विचार हम पेश करेंगे और यह भी हो सकता है (और-हुआ है) कि हम इसी गलतफहमी की वजह से आपस में लड़ें और एक दूसरे का सिर फोड़ें।

यह सब कठिनाइयां दो ऐसे आदमियों में भी, जो एक ही भाषा के बोलनेवाले हैं, सभ्य और पढ़े हुए हैं और एक ही संस्कृति के पले हुए हैं, पैदा हो सकती हैं। अगर एक पढ़ा और दूसरा अनपढ़ और जाहिल हुआ तब उनके बीच में बड़ा भारी फासला हो जाता है और उनका एक-दूसरे को पूरी तौर से समझना असम्भव हो जाता है। वे दो दुनियाओं में रहते हैं।

लेकिन यह सब कठिनाइयां छोटी मालूम होती हैं, जब

हम इनका मुकाबला करते हैं ऐसे दो आदमियों से, जो अलग-अलग भाषाएं बोलते हैं और एक दूसरे की संस्कृति को अच्छी तरह से नहीं जानते। उनके मानसिक विचारों से दिमाग़ी तसवीरों में तो ज़मीन-आसमान का फरक है। वे एक दूसरे को बहुत कम समझते हैं। फिर आश्चर्य क्या, जब वे एक दूसरे पर भरोसा न करें, एक दूसरे से डरें या आपस में लड़ें ?

एक भाषातत्वज्ञ प्रोफेसर जे० एस० मेकनजी ने, जिन्होंने भाषाओं पर और उनके सम्बन्ध पर बहुत गौर किया है, लिखा है :

"An English man, a French man, a German and an Italian cannot by any means bring themselves to think quite alike, at least on subjects which involve any depth of sentiment: they have not the verbal means."

अर्थात्—एक अंग्रेज, एक फ्रांसीसी, एक जर्मन और एक इटालियन किसी प्रकार एक प्रकार से नहीं सोच सकते, कम-से-कम भावनाओं की गहराई से सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर तो हर्गिज नहीं। उनके पास शब्दों का साधन ही नहीं है।

यह याद रखने की बात है कि एक अंग्रेज, एक फ्रांसीसी एक जर्मन और एक इटालियन एक ही संस्कृति की औलाद हैं और उनकी भाषाओं में बहुत करीब का संबंध है। फिर भी यह कहा जाता है कि वे किसी तरह से किसी गहरे विषय पर एक-सा नहीं सोच सकते, क्योंकि उनकी भाषाओं में अंतर है। अगर यह हाल उनका है तो एक हिन्दुस्तानी और अंग्रेज

का या उनकी भाषाओं का क्या कहा जाय ? धोती-कुर्त्ता पहनने से एक अंग्रेज हिन्दुस्तानी की तरह नहीं सोचने लगता और न कोट-पतलून पहनने और छुरे-कांटे से खाने से एक हिन्दुस्तानी यूरोप की सभ्यता को ही समझ जाता है।

जब एक-दूसरे को समझने में यह कठिनाइयां हैं तब बेचारा अनुवादक क्या करे? कैसे इन मुसीबतों को हल करे?

पहली बात तो यह है कि वह इनको महसूस करे और यह जान ले कि अनुवाद करना सिर्फ कोष को देखकर शाब्दिक अर्थ देना नहीं है। उसको दोनों भाषाओं को अच्छी तरह समझना है और उनके पीछे जो संस्कृति है, उसको भी जानना है। उसको कोशिश करनी चाहिए कि अपने को भूल जाय और मूल लेखक की विचार-धाराओं में गोते खाकर फिर उन विचारों को अपने शब्दों में दूसरी भाषा मे लिखे।

मेरा खयाल है कि हमारे अनुवादक लोग इस गहराई में जाने की कोशिश कम करते हैं और ज्यादातर अखबारी तौर पर अनुवाद करते हैं। अक्सर ऐसे शब्द और वाक्य मझे हिन्दी में मिलते है, जिनको देखकर मुझे आश्चर्य होता है। 'ट्रेड यूनियन' का अनुवाद मैंने 'व्यापार-संघ' पढ़ा। यह शब्दों के हिसाब से बिलकुल सही है, लेकिन जो इस चीज को नहीं जानता, वह कभी नहीं समझ सकता कि व्यापार-संघ व्यापारियों का नहीं; बल्कि मजदूरों का है। ट्रेड यूनियन शब्दों के पीछे सौ बरस से अधिक का इतिहास है। जो उसको कुछ जानता है, वह समझेगा कि कैसे यह नाम पड़ा। फ्रांस में यह नाम नहीं है, न इसका अनुवाद है। वहां इसको Syndicate

कहते हैं। अगर फ्रेंच से हिन्दी में अनुवाद हो तो क्या हम उसे 'सिंडिकेट' कहेंगे या कुछ और ? यह तो बिल्कुल सीधा उदाहरण है। असल कठिनाई तो ज्यादा पेचीदा बातों में आती है।

दूसरी बात यह है कि अनुवादक लोग जहां तक हो सके, छोटे और आसान शब्दों का प्रयोग करें, जिनके कई मानी न हों, जो धोखा दे सकें। वाक्य लम्बे-चौड़े न हों। दुनिया की अनेक भाषाओं में जो प्रसिद्ध साहित्य की पुस्तकें हैं, उनका अनुवाद प्रायः बहुत भाषाओं में हो गया है और बहुत अच्छी तरह से हुआ है। कोई वजह नहीं मालूम होती कि हिन्दी में भी ऐसे ही अच्छे अनुवाद क्यों न हों। मुझे तो पूरी आशा है कि जब हमारे साहित्यकार इधर ध्यान देंगे तो यह आवश्यक कार्य भी सफल होगा। बड़ी कठिनाई तो यह है कि हमारे विश्वविद्यालयों के बी० ए० और एम० ए० अंगरेजी बहुत कम जानते हैं और अन्य विदेशी भाषाएं तो जानते ही नहीं।

साहित्य की मामूली किताबें अनुवाद हो सकती हैं; लेकिन धर्म और दर्शनशास्त्र की तथा ऐसे ही अमूर्त विषयों की किताबों का ठीक अनुवाद करना तो असम्भव मालूम होता है। उनमें ऐसे शब्द आते हैं, जिनके बहुत से जुदा-जुदा मानी होते हैं—एक पोशाक दर्जनों आदमी पहनते हैं, उनको पहिचानें कैसे ? वे एक शब्द होने पर भी एक शब्द नहीं हैं और तरह-तरह की तसवीरें दिमागों में पैदा करते हैं, जैसे सौन्दर्य, सत्य, धर्म, मज़हब वगैरह। सौन्दर्य को ही लीजिए। औरत का, प्रकृति का, किसी विचार का, किसी कला का,

सत्य का, वाक्य का, चाल-चलन का, उपन्यास का—ऐसे ही अगणित प्रकार के सौन्दर्य कहे जा सकते हैं। इन सब बातों में एकता क्या है ? अगर यह कहा जाय कि जो चीज लोगों को पसन्द हो और उनको प्रसन्न करे, उसी में सौन्दर्य है तो यह तो एक बिलकुल गोल बात हो गई, फिर लोगों की राय एक-सी नहीं होती।

हर भाषा में बहुत-से शब्द ऐसे गोल हैं, जिनके कई मानी हो सकते हैं। कुछ ऐसे हैं, जो बिलकुल खराब हो गये हैं और जिनके खास मानी रहे ही नहीं। कुछ भिखमंगे शब्द हैं, जिनकी निस्बत मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा था—"Terms thrown out, so to speak, at a not fully grasped object of the speakers conciousness." कुछ शब्द खाना-बदोश (nomads) होते हैं, जो इधर-उधर फिरते हैं, जिनके कोई खास मानी नहीं हैं।

ऐसे शब्द हर भाषा में होते हैं और जिन लोगों के विचार साफ नहीं होते, वे खास तौर से इनका प्रयोग करते हैं। वे अपने दिमाग की कमजोरी को लम्बे और गोल और किसी कदर बेमानी शब्दों में छिपाते हैं। जिस भाषा में ऐसे शब्दों का अधिक प्रयोग हो (मेरा मतलब इस समय सौन्दर्य, सत्य आदि से नहीं है) उसकी शक्ति कम हो जाती है।। उसके साहित्य में तलवार की तेजी नहीं होती और न वह तीर की तरह से कमान को छोड़कर अपना मतलब हल करता है।

हम कोशिश कर सकते हैं कि इन घिसे हुए, भिखमंगे और अवारा, शब्दों को हम अपने बोलने और लिखने में, जहाँ

तक हो सके, पनाह न दें। अपराध तो बेचारे शब्दों का क्या है, वे तो कम सीखे हुए और अनुशासन-रहित दिमागों के हैं। बोलने वाले और लिखनेवाले भाषा को बनाते हैं; लेकिन फिर उतना ही असर उस भाषा का उन नये आदमियों पर होता है, जो उसका प्रयोग करते हैं। पुरानी भाषाओं में संस्कृत, ग्रीक, लेटिन आदि में—शब्दों की या विचारों की ढील बहुत कम मिलती है, उनमें एक चुस्ती और हथियार की-सी तेज़ी पाई जाती है और बेकार शब्द बहुत कम मिलते हैं। इससे उनमें एक शान और बड़प्पन आजाता है, जो कि खास असर पैदा करता है। आजकल की भाषाओं में शायद फ्रेंच सबसे अधिक साफ़-सुथरी है और फ्रेंच लोग प्रसिद्ध हैं अपने मानसिक अनुशासन और अपने विचारों को बहुत शुद्धता से प्रकट करने के लिए।

जो किसी कदर निकम्मे शब्द हैं, उनका सामना तो हम इस तरह से करें; लेकिन जो हमारे ऊंचे दर्जे के abstract शब्द हैं, उनका क्या किया जाय? वे हमें प्रिय हैं, वे हमारे लिए ज़रूरी हैं और अक्सर हमें उभारने में वे सहायता देते हैं। लेकिन फिर भी वे गोल हैं और कभी-कभी इतने मानी रखते हैं कि बेमानी हो जाते हैं। ईश्वर ही के खयाल को लीजिए। हर मजहब में और हर भाषा में उसकी तारीफ में हज़ारों शब्द कहे गये हैं। मालूम होता है कि इन्सान का दिमाग इस खयाल को समझ नहीं सका और अपनी कमजोरी छिपाने को कोष खोलकर जितने बड़े और जोरदार शब्द मिले, वे सब ईश्वर के मत्थे डाल दिए गये। उन सब शब्दों का

अर्थ समझना मानसिक शक्ति के बाहर था; लेकिन बहुत-कुछ कह और लिख देने से एक तरह का सन्तोष हुआ कि हमने अपना फर्ज़ अदा कर दिया और कम-से-कम ईश्वर को अब हमसे कोई शिकायत नहीं करनी चाहिए। अल्लाह के हजार नाम हैं, गोया कि नाम बढ़ाने से असलियत ज्यादा साफ हो जाती है! God को अंग्रेजी में Absolute, Omnipotent, Omnicient, Omnipresent, Perfect, Unlimited, Immutable, Eternal इत्यादि कहते हैं। यह सब सुनकर किसी कदर दिल सहम अवश्य जाता है; लेकिन अगर इन शब्दों पर कोई गौर करने की धृष्टता करे तो उसको समझ में बहुत-कुछ नही आता। मनोविज्ञान के प्रसिद्ध अमेरिकन पंडित विलियम जोज़ ने लिखा है:—

"The ensemble of the metaphysical attributes imagined by the theologians is but a shuffling and matching of pedantic dictionary adjectives. One feels that in the theologians' hands they are only a set of titles obtained by a mechanical manipulation of synonyms; verbality nas stepped into the place of vision, professionalism into that of life."

इसी तरह से इटालियन दार्शनिक क्रोस ने परेशान होकर sublime शब्द के मानी यह बतलाये हैं—"The sublime is every-thing that is or will be so called by those who have employed or shall employ the name." इसके बादकुछ ज्यादा कहने की गुंजाइश नहीं रह जाती और हर एक को इतमीनान हो जाना चाहिए।

हर सूरत से यह ऊंचे दर्जे की हवाई बातें मामूली आदमी की पहुंच के बाहर हैं। बड़े पंडित और आचार्य तय करें कि अमूर्त शब्दों का प्रयोग हो और उनका कैसे अनुवाद हो। लेकिन फिर भी हम मामूली आदमियों को यह नही भूलना चाहिए कि शब्द खतरनाक वस्तु है और जितना ही वह अमूर्त है, उतना ही वह हमको धोखा दे सकता है। शायद सबसे अधिक खतरनाक शब्द धर्म या मजहब है। हर एक आदमी अपने दिल में अलग ही उनके मानी निकालता है। हरएक के मन में नई तसवीरें रहा करती हैं। किसी का ध्यान मन्दिर, मसजिद या गिर्जे पर जायेगा, किसी का चन्द पुस्तकों पर, या पूजा-पाठ पर, या मूर्त्ति पर, या दर्शन-शास्त्र पर, या रिवाज पर, या आपस की लड़ाई पर। इस तरह से एक शब्द लोगों के दिमागों में सैकड़ों अलग-अलग तसवीरें पैदा करेगा और उनसे तरह-तरह के विचार निकलेंगे। यह तो भाषा की कमजोरी मालूम होती है कि एक ही शब्द ऐसा असर पैदा करे। होना तो यह चाहिए कि एक शब्द का सम्बन्ध एक ही मानसिक तसवीर से हो। इसके मानी यह हैं कि धर्म या मजहब के सौ टुकड़े हों और हरएक टुकड़े के लिए अलग शब्द हों। सुनने में आया है कि अमेरिका की पुरानी भाषा में प्रेम करने के लिए दो सौ से अधिक शब्द थे। उन सब शब्दों का हम अब कैसे ठीक अनुवाद कर सकते हैं?

शब्दों के प्रयोग के बारे में किसी कदर महात्मा गांधी भी गुनहगार हैं। यों तो जो कुछ वे कहते हैं या लिखते हैं, वह साफ-सुथरा और प्रभावशाली होता है। उसमें फिजूल शब्द

नहीं होते और न कोई कोशिश होती है सजावट देने की। इसी सफाई मे उसकी शक्ति है। लेकिन जब वे ईश्वर या सत्य या अहिंसा की चर्चा करते हैं—और वे अकसर करते हैं—तब उस मानसिक सफाई में कमी हो जाती है। God is truth, Truth is God, Non-violence is truth, Truth is non-violence, अर्थात् ईश्वर सत्य है, सत्य ईश्वर है, अहिंसा सत्य है, सत्य अहिंसा है—यह सब उन्होंने कहा है। इस सब के कुछ-न-कुछ मानी अवश्य होंगे; लेकिन वे साफ़ बिलकुल नहीं हैं। मुझको तो इस तरह के शब्दों का प्रयोग करना उनके साथ कुछ अन्याय करना मालूम होता है।

अगस्त, १९३५.

: १६ :

राष्ट्र-भाषा का प्रश्न

मैं यह लेख प्रधान मन्त्री की हैसियत से नही, बल्कि एक लेखक और एक ऐसे शख्स के तौर पर लिख रहा हूं, जिसे भाषा के सवाल में गहरी दिलचस्पी है। इस प्रश्न में मेरी दिलचस्पी उसके राजनैतिक और बदकिस्मती से साम्प्रदायिक पहलुओं के कारण है। लेकिन इनसे कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण इस प्रश्न के अधिक विशाल सांस्कृतिक पहलू है ।

मैं किसी भाषा का पण्डित तो नही हूं, फिर भी मुझे भाषा के सौन्दर्य से, उसके शब्दों के संगीत से और शब्दों में भरे हुए जादू और ताकत से प्रेम रहा है। मेरा विश्वास है कि लगभग दूसरी हर चीज के बनिस्बत भाषा किसी राष्ट्र के चरित्र की ज्यादा बड़ी कसौटी है। अगर भाषा शक्तिशाली और ज़ोरदार होती है तो उसको इस्तेमाल करनेवाले लोग भी वैसे ही होते हैं। अगर वह छिछली, लच्छेदार और पेचीदा है तो उसे बोलनेवाली प्रजा में भी वही लक्षण देखने को मिलेंगे।

बेशक, ज्यादा सच्चे ढंग से यह कहना चाहिए कि प्रजा के लक्षण उसकी भाषा में देखने को मिलते हैं, क्योंकि भाषा को बनानेवाले लोग ही होते हैं। लेकिन इस बात में भी कुछ सचाई है कि भाषा लोगों को बनाती है। जो भाषा ठीक-

ठीक या यथार्थ होती है, वह लोगों को ठीक-ठीक विचार करनेवाले बनाती है। शब्दों या वाक्यों के अर्थ में यथार्थता और निश्चितता न होने से विचारों की गड़बड़ पैदा होती है और उसके परिणाम-स्वरूप काम भी वैसा ही होता है।

किसी भाषा को ऐसी तंग कोठरी में बंद कर दिया जाय, जिसमें कोई दरवाजे और खिड़कियां न हों और प्रगतिशील परिवर्तन आने की गुंजाइश न रहे तो उसमें निश्चितता और छटा भले ही हो सकती हैं, परन्तु बदलते हुए वातावरण और जनसाधारण के साथ उसका सम्पर्क टूट जाने की सभावना रहती है। इसका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि उसमें ओज नहीं रहता और एक तरह का बनावटीपन आ जाता है। यह किसी भी समय अच्छी बात न होगी; परन्तु मौजूदा प्राणवान और तेजी से बदलने वाले युग में, जिसमें हमारे आसपास की लगभग सभी चीजें बदल रही हैं, तो बंद कमरे में भाषा मर ही जायगी।

पहले के जमानों की ललित भाषाओं मे कई अच्छी बातें थीं; परन्तु वे ऐसे लोकतंत्री युग के बिलकुल अनुकूल नहीं हैं, जिसमें हमारा उद्देश्य आम जनता को शिक्षित बनाना है। इसलिए भाषा को दो काम पूरे करने ही चाहिए: उसका आधार उसकी प्राचीन धातुएं हों और साथ ही वह आम जनता की, न कि कुछ चुने हुए साहित्यकारों की, बढ़ती हुई जरूरतों के साथ बदलती और बढ़ती हो और असल में उसी की भाषा हो। विज्ञान, शिल्पविज्ञान (टेकनॉलाजी) और विश्वव्यापी समागम के इस युग में यह और भी जरूरी है। जहां तक संभव

हो, उस भाषा के विज्ञान और शिल्प-विज्ञान संबंधी शब्द दूसरी भाषाओं के जैसे ही होने चाहिए। इसलिए उसे एक संग्राहक भाषा होना चाहिए, जो अपने साधारण ढांचे से मेल खानेवाले हर बाहरी शब्द को अपनाती है। कभी-कभी वह शब्द उस भाषा की प्रतिभा के अनुकूल बनाने के लिए कुछ बदला भी जा सकता है।

संस्कृत, लेटिन वगैरह उच्च कोटि की या पंडिताऊ भाषाओं का मानव-समाज के विकास में बहुत बड़ा हाथ रहा है। साथ ही उन्होंने लोकभाषाओं के विकास को कुछ रोका भी है। जब तक विद्वान लोग उच्च कोटि की भाषाओं मे सोचते और लिखते रहे तब तक लोकभाषा का सच्चा विकास नहीं हुआ। यूरोप में लेटिन १६वीं सदी के आसपास तक यूरोप की भाषाओं के विकास में बाधक रही। भारत में संस्कृत का इतना जबरदस्त प्रभाव था कि प्राकृत और बाद में जो प्रान्तीय भाषाएं बनीं वे कुछ कुण्ठित हो गईं। बाद में हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े भागों में फ़ारसी भी आलिमों की भाषा बन गई और वह भारत के कुछ भागों में लोकभाषाओं के विकास में बाधक हुई।

हिन्दुस्तान में हम अपनी प्रान्तीय भाषाओं का विकास करने के लिए बंधे हुए हैं और यह ठीक ही है कि हमारी महान प्रांतीय भाषाओं का विकास हो। साथ ही हमें एक अखिल भारतीय भाषा भी चाहिए। यह भाषा अंग्रेजी या कोई विदेशी जबान नहीं हो सकती, हालाँकि मैं मानता हूं कि उसकी जगत-व्यापी स्थिति और हिन्दुस्तान में उसके वर्तमान व्यापक ज्ञान के कारण अंग्रेजी का हमारी भावी प्रवृत्तियों

में महत्वपूर्ण हाथ रहेगा। अखिल भारतीय भाषा कोई हो सकती है तो वह सिर्फ हिन्दी या हिन्दुस्तानी—कुछ भी कह लीजिये—ही हो सकती है।

ये कुछ बुनियादी बातें हैं, जिन्हें इस अत्यन्त महत्व के सवाल पर विचार करते समय हमें ध्यान में रखना चाहिए। हमें याद रखना चाहिए कि इसका राजनैतिक दृष्टि से, या क्षणिक आवेग, या पूर्वाग्रहों के आधार पर जल्दी में किया हुआ फैसला हानिकारक साबित हो सकता है। हमें भविष्य की इमारत खड़ी करनी है और गलत बुनियाद न सिर्फ भाषा के क्षेत्र में, बल्कि संस्कृति और मानव-प्रगति के व्यापक क्षेत्र में भी हमारे विकास को कुण्ठित कर सकती है। इसलिए इस वक्त धीरे-धीरे चलना और हर तरह की कट्टरता से बचना कहीं ज्यादा अच्छा है। भाषा एक बहुत नाजुक साधन है, जिसके ऊंचे पहलुओं का विकास सूक्ष्म बुद्धिवाले लोग करते हैं, लेकिन उसे बल मिलता है आम जनता के इस्तेमाल से। वह फूल की तरह बढ़ती है। इसलिए बहुत ज्यादा बाहरी दबाव उसकी प्रगति को रोक देता है या तोड़-मरोड़ कर उसे गलत दिशा में ले जाता है।

यह कोई बड़े महत्व की बात नहीं है कि हम इस भाषा को हिन्दी कहें या हिन्दुस्तानी, क्योंकि हकीकत यह है कि हर शब्द के पीछे एक इतिहास होता है और वह किसी-न-किसी निश्चित चीज का द्योतक होता है, जिससे उसका अर्थ सीमित हो जाता है। जिस बात के बारे में हमारे दिमाग साफ रहने चाहिए, वह है भाषा का भीतरी सार और यह कि वह

भाषा संसार को किस दृष्टि से देखती है—यानी वह सीमित करनेवाली, आत्मनिर्भर, अलग-अलग रहनेवाली और संकीर्ण है या उससे उलटी है ? मेरे खयाल से हमारा लक्ष्य जान-बूझकर ऐसी जबान होनी चाहिए, जो इनसे विपरीत गुणोंवाली हो और जिसमें विकास की बड़ी शक्ति हो। शायद आज और किसी भाषा से अंग्रजी में यह संग्राहकता, लचीलापन और विकास का गुण ज़्यादा है। इसीलिए भाषा की हैसियत से उसका इतना बड़ा महत्व है। मैं चाहता हूं कि हमारी भाषा भी संसार के सामने इसी रूप मे आये।

जिस ढंग से भाषा के सवाल पर आजकल हिन्दुस्तान में वाद-विवाद होता है, उसपर मुझे बहुत दुःख है। इन दलीलों के पीछे पाण्डित्य बहुत थोड़ा है और संस्कृति की समझ तो और भी कम है। उनमे भविष्य की कोई दृष्टि या कल्पना नहीं है। भाषा को एक प्रकार की विस्तृत पत्र-कारी ही अधिक माना जाता है और राष्ट्रवाद का विपर्यास यह मांग करता है कि जहां तक हो सके उसे संकीर्ण और सीमित बनाया जाय। उसके विस्तार की किसी भी कोशिश को इस किस्म के राष्ट्रवाद के खिलाफ गुनाह करार देकर उसकी निन्दा की जाती है। अक्सर भाषा का सौन्दर्य इसमें मान लिया जाता है कि वह अत्यन्त आलंकारिक हो और उसमें लम्बे और पेचीदा शब्द-प्रयोग हों। उस भाषा में शक्ति या गौरव बहुत कम दिखाई देता है और छाप यही पड़ती है कि उसमें ऊपरीपन और छिछलापन बहुत ज्यादा है।

जैसे काव्य कोरा तुकबन्दियों और अनुप्रासों का समूह

नहीं होता, वैसे ही भाषा भी खाली पेचीदा और कठिन शब्दों का प्रदर्शन नहीं है। अंग्रेजी के सुपरिचित और साधारण शब्दों का अनुवाद करने की हाल में जो कोशिशें हुई हैं, वे निहायत ऊटपटांग हैं। भाषाको गढ़ने में अगर यही वृत्ति रही तो निश्चय ही विचारों को प्रकट करने के एक सुन्दर साधन की हत्या हुए बिना न रहेगी।

अगर मुझसे पूछा जाय कि भारत के पास सबसे बड़ा खज़ाना कौनसा है और उसकी सबसे बढ़िया विरासत क्या है तो मैं निःसंकोच उत्तर दूंगा कि वह संस्कृत भाषा, साहित्य और उसका भंडार है। यह एक शानदार विरासत है व जब तक वह कायम रहेगी और हमारी जनता के जीवन को प्रभावित करती रहेगी तब तक भारत की मूल प्रतिभा बनी रहेगी। यह एक भूतकालीन निधि होने के अलावा एक सजीव परम्परा भी है, जो ऐसी प्राचीन भाषा के लिए इतनी मात्रा में होना आश्चर्य की बात है। मैं संस्कृत के अध्ययन को प्रोत्साहन देना चाहूंगा और चाहूंगा कि हमारे पंडित इस भाषा के दबे हुए साहित्य को, जिसे लगभग भुला दिया गया है, खोज करें और उसे प्रकाश में लायें। यह आश्चर्य की बात है कि जहाँ हम राष्ट्रवाद की पराकाष्ठा पर पहुंचकर भाषा की इतनी ज्यादा बातें करते हैं, वहां उसकी भक्ति खाली ज़बानी है, या राजनैतिक उद्देश्यों के खातिर हम उसका दुरुपयोग करते हैं। जिस तरह एक भाषा की सेवा की जानी चाहिए, उस तरह उसकी सेवा बहुत कम की जाती है।

संस्कृत में देखिए या आधुनिक भारतीय भाषाओं में देखिए

रचनात्मक कार्य बहुत ही कम होता है। हम अकसर 'न खायें, न खाने दें' की नीति बरतते हैं। खुद कुछ नहीं करते और साथ ही दूसरा कोई भाषा के विकास की कोशिश कर तो उसे पसन्द भी नहीं करते। अन्त में तो किसी भाषा का विकास उसकी अपनी योग्यता से होगा, न कि कानूनों और प्रस्तावों से। इसलिए किसी भाषा की सच्ची सेवा उसका मूल्य, उसकी व्यावहारिकता और उसके भीतरी गुण बढ़ाना है।

संस्कृत कितनी ही महान् हो और हम उसके अध्ययन को कितना ही प्रोत्साहन देना चाहें, जैसा हमें देना चाहिए, तो भी वह जीवित भाषा नहीं हो सकती। लेकिन जैसे वह अब तक रही है, उसी तरह आगे भी हमारी अधिकांश भाषाओं का आधार और भीतरी सार रहनी चाहिए। यह अनिवार्य है, लकिन उसे जबर्दस्ती जनता पर लादना न तो अनिवार्य है और न वांछनीय और इसका नतीजा बुरा हो सकता है।

पिछली कुछ सदियों में हमारी कई प्रान्तीय भाषाओं और खास तौर पर हिन्दुस्तानी के विकास में फ़ारसी का महत्वपूर्ण भाग रहा है और उसने किसी हद तक हमारे विचार करने के तरीकों पर भी असर डाला है। यह हमारी एक कमाई है और इससे उतनी मात्रा में हमारी पूजी बढ़ी है। हमें यह याद रखना चाहिए कि कोई भाषा संस्कृत के इतनी नजदीक नहीं है, जितनी फ़ारसी है और वैदिक संस्कृत व प्राचीन पहलवी जितनी एक-दूसरी के नजदीक हैं; उतनी वैदिक संस्कृत और उच्च कोटि की साहित्यिक संस्कृत भी नहीं ह।

इसलिए दोनों का एक-दूसरी के क्षेत्र में कुछ हद तक प्रवेश

करना आसान है और इससे हमारी भाषा या जाति की प्रतिभा को कोई आघात नहीं पहुंच सकता।

कुछ भी हो, इतिहास की कुछ सदियों ने और उस बीच की जनता की जिन्दगी ने आज हम जैसे हैं, वैसा हमें बना दिया है और मुझे यह बेहूदा और निश्चित रूप से बेवकूफीभरी बात मालूम होती है कि इतिहास के इस किये-कराये पर पानी फेरने की कोशिश की जाय। संस्कृति के खयाल से इस किये-कराये को मिटाने और पीछे जाने के ऐसे प्रयत्न का अर्थ होगा अपने हाथ आई हुई सांस्कृतिक सम्पत्ति से अपने को वंचित करना। इसका मतलब अपने आपको कंगाल बनाना होगा। हमारा लक्ष्य तो अपनी दौलत बढ़ाने और उस सांस्कृतिक पूंजी को बढ़ाने वाली हर चीज को अंगीकार करने का होना चाहिए। इसलिए जिसे हमने पहले ही हज़म कर लिया है, उसे बाहर निकालने की कोशिश करना हर तरह ग़लत है।

अगर ये बातें ध्यान में रखी जांय तो परिणाम यह निकलता है कि हम जिस भाषा को अखिल भारतीय भाषा बनाना चाहते हैं, उसे लचीली और संग्राहक जरूर होना चाहिए तथा उसने युगों से जो सांस्कृतिक लक्षण प्राप्त कर लिये हैं, उन्हें कायम रखना चाहिए। यह भाषा असल में जनता की भाषा होनी चाहिए, न कि विद्वानों के एक छोटे से गुट्ट की। वह गौरवपूर्ण और शक्तिशाली होनी चाहिए। उसे कृत्रिमता, छिछलेपन और आलंकारिकपन को जोर से दबाना चाहिए। उसका आधार तो लाजमी तौर पर संस्कृत ही होगी और उसकी बहुत कुछ सामग्री भी उसी से ली जायगी; लेकिन

उसमें असंख्य शब्द, पद और विचार दूसरे जरियों से, खास तौर पर फ़ारसी, अंग्रेजी तथा दूसरी विदेशी भाषाओं से भी लिए गए होंगे। रही बात पारिभाषिक शब्दों की, सो सब से पहले तो हमें ऐसे हर शब्द को ले लेना चाहिए, जो आम लोगों के व्यवहार में चालू हो चुका है। नये शब्द गढ़ने मे भी हमें लोगों के आम इस्तेमाल के शब्दों और लोगों की समझ के साथ यथासंभव मेल साधना होगा और पारिभाषिक शब्दों के बारे में हमें जहां तक संभव हो दुनिया की जो एक भाषा आज बन रही है, उससे अलग नहीं होना चाहिए।

यह अच्छा होगा कि हम बुनियादी शब्दों की एक ऐसी संख्या, कोई ३०००, जमा कर लें, जो आम लोगों द्वारा इस्तेमाल किये जानेवाले, सुपरिचित और साधारण शब्द समझे जा सकें। एक ही विचार के लिए अकसर दो पर्यायवाची शब्द भी हो सकते हैं, बशर्तेकि दोनों आम तौर पर काम में लिए जाते हों। यह वह बुनियादी शब्दकोश होना चाहिए, जिसे अखिल भारतीय भाषा के ज्ञान की इच्छा रखनेवाले हर शख्स को जानना चाहिए।

ऊपर बताये ढंग पर पारिभाषिक शब्दों की एक और सूची तैयार होनी चाहिए। यहां मैं यह जरूर कहूंगा कि आज पारिभाषिक शब्दों के लिए जो नये शब्द इस्तेमाल हो रहे हैं, उनमें से बहुत से इतने असाधारण रूप मे बनावटी और सचमुच बेमानी हैं कि मुझे उनसे डर लगता है। इसका कारण यह है कि उनके पीछे कोई पृष्ठभूमि या इतिहास नहीं है।

अगर ये दोनों सूचियां तैयार कर ली जायं तो बाकी का काम भाषा के स्वाभाविक विकास पर छोड़ देना चाहिए। फिर कोई शुद्ध साहित्यिक हिन्दी कही जानेवाली या शुद्ध साहित्यिक उर्दू कही जानेवाली शैली में लिखे या दोनोंके बीच की शैली में लिखे, उसपर कोई पाबन्दी न होनी चाहिए। जब शिक्षा का विस्तार होगा और पढ़नेवाली जनता की तादाद बढ़ेगी तो खुद उसी का लेखकों और वक्ताओं पर जबरदस्त असर पड़ेगा। मुझे कोई शक नहीं कि धीरे-धीरे एक बढ़िया और जोरदार भाषा बन जायगी और वह ऊपर के किसी दबाव के बिना बढ़ेगी।

यह आश्चर्य की बात है कि हम भाषा की चर्चा तो इतनी करते है, परन्तु हमारे पास अच्छा शब्दकोश एक भी नहीं है। दुनिया की और किसी भी बड़ी भाषा को देखिए, उसमें कितने शब्दकोश, विश्वकोश और उसी तरह के दूसरे ग्रन्थ हैं। भाषा की हमारी कसौटी कुछ ऐसी हो गई है कि अदालतों के कमरों में या स्कूल की पाठ्य-पुस्तकों मे बरती जानेवाली ही भाषा है। हमारे शब्दकोश पाठशालाओं के लड़कों के काम के होते है। इसलिए जल्दी-से-जल्दी करने का एक काम यह है कि संस्कृत और हमारी आधुनिक भाषाओं के विद्वत्तापूर्ण और व्यापक शब्दकोश तैयार करने में सारी शक्ति लगाई जाय।

जैसा मैं ऊपर कह चुका हूं, भाषा के नाम का इतना महत्व नहीं है, जितना उसकी भीतरी सामग्री का। अखिल भारतीय भाषा की भीतरी सामग्री के बारे में मैंने ऊपर जो जिक्र किया

है, उसे देखते हुए और जो शब्द आज इस्तेमाल हो रहे हैं, उन्हें उसी तरह काम में लेते हुए हिन्दुस्तानी शब्द ही मेरी पसन्द की सामग्रीवाली भाषा के अधिक-से-अधिक नज़दीक है।

रही बात लिपि की, सो स्पष्ट है कि नागरी ही प्रमुख लिपि होगी। लेकिन यहां भी चूंकि मेरे विचार से एकांगी बनना सांस्कृतिक और राजनैतिक दोनों दृष्टियों से गलत है, इसलिए मेरा ख़याल है कि उर्दू लिपि को मान्यता दी जानी चाहिए; और जहां मांग हो, वहां उसे सिखाया जाना चाहिए। हम सभी लोगों से ये दोनों लिपियां सीखने को नही कह सकते। यह बहुत भारी बोझ हो जायगा। लेकिन उर्दू लिपि को ख़ास तौर पर दस्तावेज़ और दूसरे कागजात पेश करने और जहां काफी संख्या चाहती हो वहां स्कूलों में पढ़ाने के लिए मंजूर करना चाहिए।

यह बात हमारी साधारण भाषा सम्बन्धी नीति से मेल खाती है। वह नीति कांग्रेस और विधान-सभा दोनों में यों घोषित हो चुकी है कि हर बच्चे को प्रारम्भिक शिक्षा उसकी मातृभाषा में दी जानी चाहिए, बशर्तेकि किसी ख़ास जगह पर इसे व्यावहारिक बनाने के लिए काफी तादाद में छात्र हों। इस प्रकार बम्बई या कलकत्ता या दिल्ली में तामिलभाषी बच्चों की काफी तादाद हो तो उन्हें तामिल में अपनी प्रारम्भिक शिक्षा पाने का मौका मिलना चाहिए। अगर हिन्दुस्तान के किसी हिस्से में ऐसे बच्चों की काफी संख्या है, जिनकी घर की जबान उर्दू है तो उन्हें प्रान्त की भाषा के अलावा उर्दू लिपि सिखाना चाहिए। यह सिद्धान्त मान लिया गया है और इस

पर जितना जल्दी अमल हो सके उतना अच्छा है। आजकल बहुत सी कठिनाइयां पैदा होती हैं, खास तौर पर उन इलाकों में जहां दो प्रान्त मिलते हैं। इस सरहद के दोनों तरफ दो भाषाएं बोलनेवाला प्रदेश होता है। दूसरी किसी जगहके बनिस्बत यहां यह ज्यादा जरूरी है कि प्रारम्भिक शिक्षा बच्चों को मातृभाषा में दी जाय।

मेरे खयाल से हमारे लिए किसी व्यापक पैमाने पर रोमन लिपि को अपनाना सम्भव नहीं है; लेकिन यह याद रखना चाहिए कि फौज में रोमन लिपि बड़ी सफलतापूर्वक इस्तेमाल की गई है। फौज में रोमन लिपि सिखाना बड़ा आसान पाया गया है और वह एक प्रकार की एकता पैदा करनेवाली शक्ति साबित हुई है। इसलिए रोमन लिपि की सम्भावनाओं की खोज करना और जहां संभव व वांछनीय हो, वहां उसे इस्तेमाल करना अच्छा होगा।

इस लेख के शुरू में मैंने कहा है कि मैं एक लेखक की हैसियत से यह लिख रहा हूं। यहां दो शब्द लेखकों के लिए, खास तौर पर हिन्दी और उर्दू के लेखकों के लिए, कह दूं। मुझे यह देखकर बड़ा दुःख हुआ है कि हमारे बढ़िया-से-बढ़िया और होनहार लेखकों को प्रकाशकों के हाथों कैसी-कैसी मुसीबतें उठानी पड़ी हैं और किस तरह इन लोगों ने उनका शोषण किया है। जहां पत्रकार खुशहाल हैं, वहाँ सच्ची प्रतिभावाले लेखक के लिए तरक्की का बहुत कम मौका होता है।

मुझे ऐसी मिसालें मालूम हैं कि प्रकाशकों ने हिन्दी की

किताबों का कानूनी अधिकार इसलिए कौड़ियों में खरीद लिया कि गरीब लेखक भूखों मर रहा था और उसके सामने दूसरा कोई उपाय नहीं था। उन प्रकाशकों ने इन पुस्तकों से काफी रुपया कमा लिया तो भी लेखक भूखों ही मरता रहा। मेरे खयाल से यह बहुत बड़ी बदनामी और सार्वजनिक कलंक की बात है और मैं ऐसी पुस्तकों के प्रकाशकों से अपील करूंगा कि वे लेखकों से ऐसा बेजा फ़ायदा न उठाये।

प्रकाशक तभी फले-फूलेंगे, जब लेखक खुशहाल होंगे। प्रकाशकों के दृष्टिकोण से भी लेखक को भूखों मरने देना या उसे कोई योग्य काम करने से रोकना मूर्खताभरी नीति है। लेकिन राष्ट्रीय हित के ख़याल से यह सवाल और भी अहम है और यह देखना राष्ट्रका काम है कि हमारे प्रतिभाशाली लेखकों को अच्छा काम करनेका मौका मिले।

फरवरी, १९४९

: १७ :

स्नातिकायें क्या करें ?

बहुत वर्ष पहिले मुझे महिला-विद्यापीठ के हाल के शिला-रोपण का सौभाग्य मिला था। इन हाल ही के बरसों में इतनी बातें हो गई हैं कि समय का मुझे ठीक-ठीक अन्दाज नहीं रहा और थोड़े साल भी बहुत ज्यादा लगते हैं। तब से बराबर मैं राजनैतिक बातों में और सीधी लड़ाई मे फंसा रहा हूं और हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई मेरे दिमाग पर चढ़ी रही है। महिला-विद्यापीठ से मेरा संबंध नहीं रह सका। पिछले चार महीनों में, जिनमे मै जेल की दीवारों के बाहर की विस्तृत दुनिया मे रहा हूं, मेरे लिये बहुत-से बुलावे आये हैं और बहुत-सी सार्वजनिक कार्रवाइयों में हिस्सा लेने के निमंत्रण मिले हैं। इन बुलावों की ओर मैंने ध्यान नहीं दिया और सार्वजनिक कार्रवाइयों से भी दूर रहा हूं; क्योंकि मेरे कान तो बस एक ही बुलावे के लिए खुले थे और उसी एक उद्देश्य में मेरी सारी शक्ति लगी थी। वह बुलावा था हमारी दुखी और बहुत समय से कुचली जाने वाली मातृभूमि—भारत का और खास तौर से हमारी दीन शोषित जनता का और वह उद्देश्य था हिन्दुस्तानियों की मुकम्मिल आजादी।

इसलिए इस अहम मसले से हटकर दूसरी और मामूली बातों की ओर जाने से मैंने इन्कार कर दिया था। उन बातों

में से कुछ अपने सीमित क्षेत्र मे महत्व रखती थीं; लेकिन जब श्री संगमलाल अग्रवाल मेरे पास आये और जोर दिया कि मैं महिला-विद्यापीठ का दीक्षांत-भाषण दूं ही तो उनकी अपील का विरोध करना मुझे मुश्किल जान पड़ा; क्योंकि उस अपील के पीछे हिन्दुस्तान की लड़कियां अपनी जिंदगी की दहलीज पर चिर-काल के बन्धन से स्वतन्त्र होने की कोशिश करती और विवशता के साथ भविष्य को ताकती दिखाई दीं, यद्यपि जवानी के उत्साह से उनकी आंखों में आशा थी।

इसलिए खास हालत में और विवशता के साथ मैं राजी हुआ। मुझे आशा नहीं थी कि उससे भी जरूरी बुलावा और कहीं से नहीं आजायगा, और अब मैं देखता हूं कि वह जरूरी बुलावा बेहद पीड़ित बंगाल के सूबे से आ गया है। वहां जाना मेरे लिए जरूरी है और यह भी मुमकिन है कि महिला विद्यापीठ के दीक्षांत-समारोह के वक्त पर न लौट सकूं। इसके लिए मुझे दुःख है और मै यही कर सकता हूं कि उसके लिए सन्देश छोड़ जाऊं।

अगर हमारे राष्ट्र को ऊंचा उठना है तो वह कैसे उठ सकता है जब तक कि आधा राष्ट्र—हमारा महिला-समाज—पिछडा रहता है, अज्ञानी और कुपढ़ रहता है? हमारे बच्चे किस प्रकार हिन्दुस्तान के संयत और प्रवीण नागरिक हो सकते है, अगर उनकी मातायें खुद संयत और प्रवीण नहीं हैं? हमारा इतिहास हमें बहुत-सी चतुर और ऐसी औरतों के हवाले देता है जो सच्ची थी और मरते दम तक बहादुर रहीं। उनके उदाहरणों का हमारे लिए मूल्य है, उनमे हमें

प्रेरणा मिलती है। फिर भी हम जानते हैं कि हिन्दुस्तान में तथा दूसरी जगहों में औरतों की हालत कितनी दीन है। हमारी सभ्यता, हमारे रीति-रिवाज, हमारे कानून सब आदमी ने बनाये हैं और आदमी ने अपने को ऊंची हालत में रखने का और स्त्रियों के साथ बर्तनों और खिलौनों-जैसा बर्ताव करने और अपने फायदे और मनोरंजन के लिए उनका शोषण करने का पूरा ध्यान रखा है। इस लगातार बोझ के नीचे दबी रहकर औरतें अपनी शक्ति पूरी तरह से नहीं बढ़ा पाई और तब आदमी उन्हें पिछड़ी हुई होने का दोष देता है।

धीरे-धीरे कुछ पश्चिमी देशों में औरतों को आजादी मिल गई है; लेकिन हिन्दुस्तान में हम अब भी पिछड़े हुए हैं, हालांकि उन्नति की भावना यहां भी पैदा हो गई है। यहां पर बहुत-सी सामाजिक बुराइयां हैं। जिनसे हमें लड़ना है और बहुत-से पुराने रीति-रिवाज जो हमें बांधे हुए हैं और जो हमें अवनति की ओर ले जाते हैं, उन्हें तोड़ना है। पुरुष और स्त्रियां, पौधों और फूलों की तरह आजादी की धूप और ताजी हवा में ही बढ़ सकती हैं। विदेशी शासन की अन्धेरी छाया और गला घोंटनेवाले वायुमण्डल में तो वे अपनी शक्ति क्षीण करती हैं।

इसलिए सबके सामने बड़ी समस्या यह है कि किस तरह हिन्दुस्तान को आजाद करें और हिन्दुस्तानी जनता पर लदे हुए बोझ को कैसे दूर करें? लेकिन हिन्दुस्तान की औरतों का तो एक और काम है, वह यह कि वे आदमी के बनाए रीति-रिवाजों और कानूनों के जुल्म से अपने को मुक्त करें। इस

दूसरी लड़ाई को उन्हें खुद ही लड़ना होगा; क्योंकि आदमी से उन्हें मदद मिलने की सम्भावना नहीं है।

पदवीदान के अवसर पर मौजूदा बहुत-सी लड़कियां और स्त्रियां अपनी पढ़ाई खत्म कर चुकी होंगी, डिगरी ले चुकी होंगी और एक बड़े क्षेत्र में काम करने के लिए अपने को तैयार कर चुकी होंगी। इस विस्तृत दुनिया के लिए वे किन आदर्शों को लेकर जायंगी और कौन-सी अन्दरूनी भावना उन्हें स्वरूप देगी और उनके कामों की देख-भाल करेगी? मुझे डर है, उनमें से बहुत-सी तो रोजमर्रा के रूखे घरेलू कामों में फंस जायंगी और कभी-कभी ही आदर्शों या दूसरे दायित्वों की बात सोचेंगी। बहुत-सी सिर्फ रोटी कमाने की बात सोचेंगी। इसमें सन्देह नहीं कि ये दोनों चीजें भी जरूरी हैं; लेकिन अगर महिला-विद्यापीठ ने सिर्फ यही अपने विद्यार्थियों को सिखाया है तो उसने अपने उद्देश्य को पूरा नहीं किया। अगर किसी विद्यालय का औचित्य है तो वह यह कि वह सचाई, आजादी और न्याय के पक्ष में शूरवीरों को तैयार करे और दुनिया में भेजे। वे शूरवीर दमन और बुराइयों के विरुद्ध निर्भय युद्ध करें। मुझे उम्मीद है कि आप में से कुछ ऐसी हैं। कुछ ऐसी भी हैं जो अन्धेरी और बुरी घाटियों में पड़ी रहने की बनिस्बत पहाड़ पर चढ़ना और खतरों का मुकाबिला करना पसन्द करेंगी।

लेकिन हमारे विद्यालय पहाड़ पर चढ़ने में प्रोत्साहन नहीं देते। वे तो चाहते हैं कि नीचे के देश और घाटी सुरक्षित रहें। वे मौलिकता और आजादी को प्रोत्साहन नहीं देते और

हमारे विदेशी शासकों के सच्चे बच्चों की भांति ऊपर से शासन और व्यवस्था का थोपा जाना उन्हें पसन्द है । इसमें ताज्जुब ही क्या है, अगर उनके काम निराशा-जनक, बेकार और हमारी बदलती हुई दुनिया में ठीक नही बैठते हैं ।

हमारे विद्यालयों की बहुतों ने अलोचना की है । उनमें से वहुत-सी आलोचनाएं ठीक भी हैं । वास्तव में मुश्किल से किसी ने हिन्तुस्तान के विश्वविद्यालयों की तारीफ की है । लेकिन आलोचकों ने भी विद्यालय की शिक्षा को उच्चवर्गीय साधन माना है । उसका जनता से कोई सम्बन्ध नही है । शिक्षा की जड़ें धरती में होकर नीचे जनता तक पहुचनी चाहिए, अगर शिक्षा को वास्तविक और राष्ट्रींय होना है । हमारी विदेशी सरकार और पुरानी दुनिया के रीति-रिवाज के कारण यह आज संभव नहीं हैं, लेकिन आप में से जो विद्यापीठ से निकलकर दूसरों की शिक्षा में मदद देगी, उन्हे इस बात का ध्यान रखना चाहिए और तब्दीली के लिए कोशिश करनी चाहिए ।

कभी-कभी कहा जाता है, और मेरा विश्वास है कि विद्यापीठ खुद इस बात पर जोर देता है, कि स्त्रियों की शिक्षा आदमियों की शिक्षा से जुदा होनी चाहिए । स्त्रियों को घरेलू कामों के लिए और खूब प्रचलित शादी के पेशे के लिये तैयार किया जाना चाहिए । मैं स्त्री-शिक्षा के इस सीमित और एक-पक्षीय विचार से सहमत नहीं हो सकूगा । मेरा विश्वास है कि स्त्रियों को मानवीय कामों के प्रत्येक विभाग में सर्वोत्कृष्ट शिक्षा मिलनी चाहिए और उन्हें तैयार किया जाना चाहिए

जिससे वे तमाम पेशों में और क्षेत्रों में सक्रिय भाग ले सके। खास तौर से शादी को पेशा समझने और स्त्री के लिए उसे एक-मात्र आर्थिक सहारा मानने की आदत को दूर करना होगा। तभी स्त्री को आजादी मिल सकती है। आजादी राजनैतिक की बनिस्बत आर्थिक हालतों पर निर्भर होती है। अगर स्त्री आर्थिक रूप से स्वतंत्र नही है और अपनी आजीविका स्वयं पैदा नही करती तो उसे अपने पति या और किसी पर निर्भर रहना होगा और दूसरों पर निर्भर रहने वाले कभी आजाद नही होते। स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध बिलकुल आजादी का होना चाहिए, एक-दूसरे पर निर्भर होने का नही।

विद्यापीठ की स्नातिकाओ बाहर जाकर आपका क्या कर्त्तव्य होगा? क्या आप सब बातों को जैसी वे हैं, चाहे जितनी बुरी वे हों, स्वीकार कर लेंगी? क्या अच्छी बातों के प्रति हार्दिक और बेकार सहानुभूति दिखाकर ही संतुष्ट हो जायंगी और कुछ करेंगी नहीं? क्या अपनी शिक्षा का औचित्य नही दिखायंगी और बुराइयां जो आपको घेरे हुए हैं उनका विरोध करके अपनी शक्ति आप साबित नहीं करेंगी? क्या आप पर्दे के, जो हैवानी युग का एक दोषपूर्ण अवशेष है और जो हमारी बहुत-सी बहनों के दिलो-दिमाग को जकड़े हुए है, टुकड़े टुकड़े नही कर डालेंगी और उन टुकड़ों को नही जला देंगी? अस्पृश्यता और जाति से, जो मानवता का पतन करती हैं और जो एक वर्ग को दूसरे वर्ग का शोषण करने में मदद देती हैं, क्या आप नहीं लड़ेंगी और इस तरह मुल्क में बराबरी

पैदा करने मे मदद नही देंगी ? हमारे शादी के बहुत से कानून हैं और प्राचीन रीति-रिवाज हैं, जो हमें पीछे रोके हुए हैं और खास तौर मे हमारी स्त्रियों को कुचलते हैं। क्या आप उनसे मोरचा नहीं लेंगी और उन्हें मौजूदा हालतों के साथ नही लायगी ? क्या आप खुली हवा में खेल-कूद और व्यायाम और रहन-महन से स्त्रियों के शरीर को पुष्ट करने के लिए, जिससे हिन्दुस्तान में मजबूत, तन्दुरुस्त और सुन्दर स्त्रियां और खुश बच्चे हों, आप शक्ति और दृढ़ता के साथ नहीं लड़ेगी ? और सबसे ऊपर, क्या आप राष्ट्रीय और सामाजिक स्वतन्त्रता की लड़ाई में, जो आज हमारे मुल्क में हलचल मचाये हुए है, एक बहादुराना हिस्सा नहीं लेंगी ?

ये बहुत-से सवाल मैंने आपसे किये हैं, लेकिन उनके जवाब उन हजारों बहादुर लड़कियों और स्त्रियों से मिल गये हैं जिन्होंने पिछले चार सालो में हमारी आजादी की जंग मे खास हिस्सा लिया है। सार्वजनिक काम करने की आदत न होने पर भी घर-बार का सहारा छोड़कर हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई में अपने भाइयों के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर खड़ी हुई उन बहनों को देखकर कौन नहीं कांप उठा ? बहुत-से आदमियों को, जो अपने को आदमी कहते थे, उन्होंने लज्जा से भर दिया और दुनिया को घोषित कर दिया कि हिन्दुस्तान की औरतें भी अपनी लम्बी नींद से उठ बैठी हैं और अब उनके अधिकारों से इन्कार नहीं किया जा सकता।

हिन्दुस्तान की औरतों ने मेरे सवालों के जवाब दे दिए

हैं और इसलिए महिला-विद्यापीठ की लड़कियों और स्त्रियो, मैं आपका अभिनन्दन करता हूं और आपके हाथ में यह जिम्मेदारी सौंपता हूं कि आप आजादी की मशाल को प्रज्वलित रखे, जब तक कि उसकी लपटें हमारे इस प्राचीन और प्रिय देश में सब जगह न फैल जावें।

: १८ :

सामाजिक हित

दर असल सामाजिक भलाई है क्या? मैं तो इसे समाज की खुशहाली ही समझता हू। यदि ऐसा है तो इसमें वे सभी चीजे आ गईं जो एक व्यक्ति सोच सकता है—आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक। इस तरह यह प्रश्न मानव-कार्यप्रणाली और मानव-सम्बन्ध के सारे क्षेत्र को ढंक लेता है। फिर भी यह व्यापक अर्थ कभी इसके साथ लगाया नहीं जाता और हम इन शब्दों को बहुत ही अधिक सीमित अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। सामाजिक कार्यकर्त्ता या कार्यकर्त्री अधिकतर अपने को ऐसे कार्यक्षेत्र में कार्य करते हुए समझते हैं, जो राजनैतिक कार्य और आर्थिक सिद्धान्त से बिलकुल भिन्न है। वह पीड़ित मानवता को राहत पहुचाने की चेष्टा करेंगे, रोग और गन्दगी के खिलाफ जिहाद करेंगे, बेकारी और वेश्यावृत्ति को मिटाने की कोशिश करेंगे। वर्तमान अनीति में कमी कराने के लिये वे न्याय में भी परिवर्तन कराने का प्रयत्न करेंगे; पर वे समस्या के मूल तक कभी न *जांयगे, क्योंकि वर्तमान समाज के स्वरूप को जैसे-का-तैसा* स्वीकार कर वे उसके महान अन्यायों को हलका करने में प्रयत्नशील रहते हैं।

हमें उस महिला पर ग़ौर करने की जरूरत नहीं जो

यदाकदा गन्दी बस्तियों में जाकर दान-पुन्य आदि करके अपनी अन्तरात्मा को हलका करना चाहती है। समस्या पर इस तरह ग़ौर करनेवाले जितने भी कम मिलें उतना ही अच्छा है; पर ऊपर जिस संकुचित रास्ते का वर्णन किया जा चुका है, उसी तरह अपने सहयोगियों की सेवा में लगे हुए आदमियों की सख्या काफी है। वे काफ़ी अच्छा काम करते हैं और उससे वे दूसरों को चाहे विशेष लाभ पहुंचाएं या न पहुंचाएं, स्वयं वे अनुशासन में दक्ष हो जाते हैं।

पर मुझे यह मालूम होता है कि इस अच्छे काम का ज्यादा हिस्सा बरबाद हो जाता है, क्योंकि यह तो समस्या की सतह को ही स्पर्श करता है। सामाजिक कुरीतियों का एक इतिहास और एक पृष्ठ-भूमि है। उसकी जड़ हमारे अतीत में है और हम जिस आर्थिक ढांचे के अन्दर निवास करते हैं उससे उसका प्रगाढ़ सम्बन्ध है। उनमें से कई तो उसी आर्थिक प्रणाली के स्पष्ट परिणाम हैं और अन्य कई धार्मिक कट्टरता और हानिप्रद रीति-रस्मों से पैदा हुए हैं। अतः सामाजिक भलाई की समस्या पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करने में हम अनिवार्यतः बुराइयों की जड़ों में पहुंच कर उनका सबब जानने की कोशिश करेंगे। हममें सत्य के गहरे कूप में देख सकने और साफ़-साफ़ कह सकने का साहस होना चाहिए। अगर हम धर्म, राजनीति और अर्थशास्त्र को नजरअन्दाज करें तो हम सतह पर ही रहेंगे और हमें न तो आदर ही हासिल होगा और न उसका कोई परिणाम ही हो सकेगा।

लगभग दो वर्ष से राष्ट्रीय पुनर्निर्माण समिति से मेरा

सम्बन्ध रहा है और मेरे अन्दर यह विश्वास पैदा होता गया है कि किसी भी समस्या को अलग करके उसका हल निकाल सकना सम्भव नहीं है। सभी समस्याएं साथ सबद्ध है और वे ज्यादातर आर्थिक ढाचे पर आश्रित है। सीमित अर्थ मे यही बात सामाजिक समस्याओं पर भी लागू होती है। हाल ही में निर्माण-समिति ने अपनी उप-समिति की उस रिपोर्ट पर विचार किया था, जिसमें राष्ट्र-निर्माण के कार्य मे महिलाओं के स्थान के बारे मे चर्चा की गई थी। इस उप-समिति ने सामाजिक समस्याओं पर अच्छी तरह गौर किया था। अपने कार्य के दौरान में उसे बराबर राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक पहलुओं का सामना करना पड़ता था।

यह कह सकना सरल नहीं है कि रक्षित धार्मिक या रक्षित आर्थिक स्वार्थों में किस पर गौर करना अधिक मुश्किल है। ये दोनों ही स्वार्थ-स्थिति को ज्यों-का-त्यों रखने के पक्ष में हैं और परिवर्तन के विरोधी हैं। इस तरह एक सच्चे सुधारक का काम दरअसल बहुत जटिल है।

इसके पहले कि हम किसी विशेष सुधार का प्रारम्भ करें, यह निहायत जरूरी है कि हम यह समझें कि हमारा उद्देश्य क्या है और हम किस प्रकार के समाज की स्थापना चाहते हैं। यह स्पष्ट है कि अगर एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जा सके जिसमें सभी बालिगों को काम और सुरक्षा का आश्वासन हो, जिसमें युवकों के लिए शिक्षा का समुचित प्रबन्ध हो, जिसमे जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं का व्यापक वितरण हो और जिसमें आत्मिक विकास के

लिए किसी अंश तक आज़ादी हो तो यह स्वयं हमारी कई समस्याओं को सुलझा देगी और उससे तत्काल बुराइयों की कमी हो जायगी और मानव-सम्बन्धों में कहीं अधिक बेहतर सामंजस्य स्थापित हो जायगा ।

इसलिए जरूरत इस बात की है कि इस समस्या पर सभी मोरचों द्वारा हमला किया जाय और सम्भव है कि तथाकथित धार्मिक मोरचे पर सबसे बड़ी तकलीफ सामने आकर खड़ी हो । जहां तक धर्म का ताल्लुक है उसके स्पर्श करने की जरूरत नहीं, पर ऐसे अनेक नियम और उपनियम हैं, जिन्हें धार्मिक स्वीकृति मिली हुई है । उनपर जब किसी प्रकार की आंच आती दिखाई देगी तो धर्म के ठेकेदार बड़ा गम्भीर विरोध करेंगे । विरासत, ब्याह और तलाक को विभिन्न सम्प्रदायों के जाती कानून का अंग समझा जाता है और इसी व्यक्तिगत कानून को धर्म का अंग समझा जाता है । यह साफ है कि ऊपर से किसी प्रकार का परिवर्तन समाज पर लादा नहीं जा सकता । इसलिए तत्कालीन सरकार का यह फर्ज होगा कि वह जनमत को इस तरह शिक्षित करे कि वह आने वाले परिवर्तनों को स्वीकार कर ले ।

सन्देह को दूर करने के लिए यह साफ तौर पर बतला दिया जाना चाहिए कि कोई भी परिवर्तन जनता के किसी तबके पर बिना उसकी मर्जी के जबरन न लादा जायगा । इससे कठिनाइयां उत्पन्न होंगी और कानून के अमल करने में किसी प्रकार की एकरूपता की स्थापना न हो सकेगी, पर साथ ही दूसरा रास्ता यानी परिवर्तन को जबरन लाद

देना तो और भी कई दुर्भावनाओं को पैदा कर देगा।

मुझे ऐसा मालूम होता है कि सारे हिन्दुस्तान के लिए एक नागरिक कानून-प्रणाली होनी चाहिए। सरकार को इसके लिए प्रचार जारी रखना चाहिए। एक बड़ी भारी जरूरत इस बात की है कि किसी भी धर्म के व्यक्तियों को बिना अपना धर्म त्याग किए हुए शादी करने की आज्ञा दी जाय। वर्तमान सिविल मैरिज कानून में यह सुधार होना चाहिए।

तलाक के कानून की हिन्दुओं के लिए बड़ी सख्त जरूरत है। हम चाहते हैं कि परिवर्तन ऐसे हों जो पुरुषों और स्त्रियों दोनो पर लागू हों। हम यह भी चाहते हैं कि सदियों से दोहरे बोझ के नीचे पिसने वाली महिलाओं को इन परिवर्तनों से लाभ पहुंचे। हमें चाहिए कि स्त्री और पुरुष के बीच हम प्रजातन्त्र के सिद्धान्त को स्वीकार कर अपने नागरिक कानूनो और समाज में उचित सुधार करें।

: १६ :

विज्ञान और युग

विज्ञान और विज्ञान के शिक्षा-भवनों मे इधर मै बहुत दूर रहा हू और किस्मत और परिस्थितियां मुझे गर्द और शोर से भरे हुए बाजारों मे, खेतों और कारखानों में ले गई ह । हां, मनुष्य मेहनत करते है, कष्ट महन करते है और जिदा रहते हैं । इधर उन विशाल आन्दोलनों मे भी मेरा सम्बन्ध रहा है, जिन्होंने हमारे इस देश को हिला दिया है । हांलाकि मैं कोलाहल और आन्दोलनों से घिरा हुआ रहा हूं, फिर भी विज्ञान के लिए मैं एक निपट अजनबी की तरह नहीं हूं । मैंने भी विज्ञान के मंदिर में पूजा की है और अपने को उसके भक्तों में गिना है ।

आज विज्ञान के प्रति कौन उदासीन हो सकता है ? जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हमें विज्ञान से सहायता लेनी पड़ती है । संसार के इस विशाल भवन की आधार-शिला विज्ञान ही है । मानव सभ्यता के दस हजार वर्ष लबे इतिहास में, पहले-पहल १५० वर्ष पूर्व, विज्ञान ने क्रांतिकारी रूप धारण कर सहसा प्रवेश किया और इतिहास के यह १५० वर्ष सबसे अधिक क्रांतिपूर्ण और विस्फोटक साबित हुए हैं । विज्ञान के इस युग में रहने वालों के लिए जीवन का वातावरण और गतिविधि पहले के युगों की अपेक्षा बिलकुल भिन्न हैं । लेकिन इस सत्य

का पूरी तरह से अनुभव करने वाले बहुत कम हैं और वे आज की समस्याओं को भी उस बीते दिन की सहायता और तुलना से समझना चाहते हैं, जो मर चुका है और गुजर चुका है।

विज्ञान के द्वारा जीवन में विशाल परिवर्तन हुए हैं, यद्यपि उनमें सभी मानवजाति के लिए कल्याणकारी सिद्ध नहीं हुए। किंतु उन परिवर्तनों में सबसे मुख्य और आशाप्रद परिवर्तन विज्ञान के प्रभाव से मनुष्य में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास है। यह सत्य है कि आज भी बहुत से लोग मानसिक दृष्टि से उसी पहले अवैज्ञानिक युग में रहते हैं और वे लोग भी जो बड़े उत्साह के साथ विज्ञान का पक्ष समर्थन करते हैं, अपने विचारों और कामों में अवैज्ञानिक दृष्टिकोण का ही परिचय दे डालते हैं। वैज्ञानिक लोग भी, यद्यपि वे अपने विषय के विशेषज्ञ होते हैं, कभी-कभी उस बिषय से बाहर वैज्ञानिक दृष्टि-कोण का प्रयोग करना भूल जाते हैं। फिर भी केवल इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही मनुष्य-जाति को कुछ आशा हो सकती है और उसके द्वारा ही संसार के क्लेशों का अन्त हो सकता है। संसार मे परस्पर-विरोधी शक्तियो के संघर्ष चल रहे हैं। उनका विश्लेषण किया जाता है और उन्हें भिन्न नामों से पुकारा जाता है, लेकिन जो वास्तविक और प्रधान संघर्ष है वह वैज्ञानिक और अवैज्ञानिक दृष्टिकोण का ही संघर्ष है।

विज्ञान के प्रारंभिक दिनों में धर्म और विज्ञान के पारस्परिक विरोध की बहुत चर्चा रही है। आज वह विरोध यथार्थ नही मालूम होता। आज विज्ञान का रूप अधिक

व्यापक है, उसने संपूर्ण विश्व को अपना कार्य-क्षेत्र बना लिया है और ठोस पदार्थ को सूक्ष्म रूप में परिवर्तित कर दिया है। लेकिन उस वक्त विज्ञान और कर्म का संघर्ष वास्तविक था, क्योंकि वहां धर्म के नाम से पुकारी जाने वाली शक्ति द्वारा स्थापित मानसिक निरंकुशता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ पली हुई मनुष्य की स्वतंत्र बुद्धि के बीच पारस्परिक संघर्ष था। ऐसी परस्पर विरोधी शक्तियों के बीच समझौता मुमकिन नही, क्योंकि विज्ञान इस बात को बर्दाश्त नही कर सकता कि किसी भी शक्ति द्वारा, चाहे उसे कैसा भी रुचि-कर नाम क्यों न दे दिया जाय, मस्तिष्क की खिडकियों को बन्द करने का प्रयत्न किया जाय। विज्ञान से यह नही हो सकता कि वह अंधविश्वास के पक्ष में, या बिना तहकीक के किसी दूसरे के विश्वासों के पक्ष में, प्रोत्साहन दे।

विज्ञान को केवल आकाश की ओर ही न देखना चाहिए और न केवल उसी को अपने नियंत्रण में लाने का प्रयत्न करना चाहिए, बल्कि नीचे नरक के गर्त मे निःशंक भाव से देखने की भी उसमें क्षमता होनी चाहिए। इनमें से किसी भी क्षेत्र से दूर भागने की कोशिश करना वैज्ञानिक का कर्तव्य नहीं। सच्चा वैज्ञानिक तो वह है जो जीवन और कर्मफल से निर्लिप्त है और जो सत्य की खोज में, जहां भी उसकी जिज्ञासा ले जाय, वहां तक जाने की क्षमता रखता है। अपने को किसी वस्तु से बांध लेना और फिर वहां से न हट सकना तो सत्य की खोज को तर्क कर देना है और इस गतिशील संसार में गीतहीन हो जाना है।

शायद सच्चे धर्म और विज्ञान के बीच कोई वास्तविक विरोध है भी नहीं, लेकिन यदि यह सत्य है तो धर्म को विज्ञान का लिबास पहनना होगा और अपनी सब समस्याओं की ओर वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखना होगा। हममें से बहुत से ऐसे हैं, जिन्हे जीवन के ऐहिक दर्शन से ही संतोष हो सकता है। हम उन सवालों में सिर खपायें भी क्यों, जो हमसे परे हैं, जबकि इस संसार में ही ऐसी समस्याओं की कमी नही, जिनका सुलझाया जाना अत्यावश्यक है? और साथ ही उस ऐहिक दर्शन के पीछे केवल दुनिया की खुशहाली की इच्छा के अतिरिक्त कुछ अन्य ऊंचे सिद्धान्त भी होते हैं। उस ऐहिक दृष्टिकोण में भी कुछ आध्यात्मिकता और नैतिकता होती है और जब हम इन बातों की ओर ध्यान देते हैं तो हम अपने को उसी क्षेत्र में पाते हैं जो धर्म के नाम से पुकारा जाता है।

लेकिन विज्ञान ने तो उस क्षेत्र पर कई पहलुओं से आक्रमण किया है। विज्ञान ने उस लकीर को मिटा दिया है जो वस्तु-जगत से विचार-जगत तथा भौतिक से मानसिक को पृथक करती हुई समझी जाती थी। विज्ञान ने मनुष्य के भीतर ही नहीं झांका है, बल्कि उसके अर्ध-चेतन मन के रहस्यों को तथा उसे संचालित करने वाली छिपी शक्तियों को भी जान लेने का प्रयत्न किया है। विज्ञान ने, अंतिम सत्य क्या है, ऐसे विषय पर भी विचार करने का साहस किया है। वैज्ञानिक बतलाते हैं कि एक अणु की वास्तविकता, उसकी निहित शक्ति में है। इस प्रकार भौतिक संसार वास्तव में एक

सक्रिय समूह बनगया है और प्रकृति उस क्रिया-प्रतिक्रियाके लिए रंगमंच के समान है। हर जगह गति है, परिवर्तन है। वस्तु की वास्तविकता केवल 'क्रिया' में ही है, जो इस क्षण है और दूसरे क्षण नही भी है। क्रिया के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जब ठोस पदार्थ की यह गति है तो फिर सूक्ष्म तत्वों की गति क्या है, कौन कहे ?

विज्ञान सम्बन्धी विचारों के इस आश्चर्यजनक विकास के प्रकाश में पुराने तर्क कितने सारहीन मालूम होते हैं। अब वह समय आगया है कि विज्ञान के विकास से अपने आपको अभिज्ञ बनाकर हमें बीते युग के विवाद को छोड देना चाहिए। यह सत्य है कि विज्ञान के सिद्धान्त भी परिवर्तन-शील हैं और विज्ञान में अटल सत्य या अन्तिम सत्य जैसी कोई चीज नही है; किन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन नही होता। और हमें अपने विचारों और कामों मे विश्व के सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रों में, धर्म तथा सत्य की खोज में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही काम लेना चाहिए। हमारा अस्तित्व चाहे साबुन के बबूले जैसे विश्व पर एक धूलि-कण की भांति ही क्यों न हो, लेकिन हमें यह न भूल जाना चाहिए कि उस धूलि-कण में मनुष्य की मानसिक और आत्मिक शक्तियां भी निहित हैं। युग-युगान्तर का लम्बा इतिहास उसी धूलि-कण के विकास की कथा है। उसने अपने आपको इस पृथ्वी का स्वामी बना दिया है और पृथ्वी के गर्भ तथा आकाश के वज्र से शक्ति कर संचय किया है। उसने सृष्टि के रहस्यों को मापने का प्रयत्न किया है और

अनियंत्रित प्रकृति पर काबू करके उससे लाभ उठाया है। लेकिन पृथ्वी और आकाश से भी अद्भुत मनुष्य का मन और आत्मा हैं जो नित्य नई शक्ति का संचय कर, अपनी विजय-लालसा के लिए नए-नए विश्व खोजते हैं।

यह है वैज्ञानिक का कर्तव्य। लेकिन हम जानते ही हैं कि सभी वैज्ञानिक वीरता और साहस के सांचे में ढले हुए नही होते और न वे प्लेटो की आदर्श व्यवस्था के उन दार्शनिक सम्राटों की ही भांति होते हैं, जिनका जिक्र उसने उस बीते हुए युग में किया था। शाहीपन तो इन वैज्ञानिकों में नहीं ही रहता, लेकिन उनमें दार्शनिकता का भी अभाव होता है और उनकी दिनचर्या किसी संकीर्ण क्षेत्र और नियमित कार्य-वाही तक ही सीमित रह जाती है। विशेषज्ञ तो उन्हें बनना ही पड़ता है, लेकिन जैसे-जैसे वे विशेषज्ञ बनते जाते हैं, विषय की संपूर्णता का ध्यान उनसे छूटता जाता है और वे वास्तविकता से संपर्क त्याग, पांडित्याभिमानी बन जाते हैं। भारतवर्ष में जिसे राजनैतिक व्यवस्था में दुर्भाग्यवश रहना पड़ा है, उसके कारण हमारे वैज्ञानिकों के विकास में और भी रुकावट पड़ी है और समाजिक उन्नति के कार्य में उस बाधा के कारण वे अपना-अपना उचित हिस्सा नही ले सकते हैं और बहुत से लोगों की भांति वे भी सशकित रहे हैं कि तात्कालिक शासन को उनके किसी कार्य या विचार तक से असंतोष न हो, और इस प्रकार कहीं उनकी स्थिति डांवाडोल न होजाय। ऐसी अवस्था में विज्ञान की उन्नति नही हो सकती, वैज्ञानिक लोग फल-फूल नहीं सकते। विज्ञान के

विकास के लिए स्वतंत्र वातावरण की आवश्यकता है। सामाजिक हित के खयाल से विज्ञान को असली रूप देने के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण और युग की आत्मा के अनुरूप ही उद्देश्य भी होने चाहिए।

भय का जो भाव हमारे देश पर काबू किये हुए था, वह हमारी राष्ट्रीय कांग्रेस के आंदोलनों और कामों की वजह से सौभाग्यवश अब बहुत कम होगया है। आज गरीब, भूखे और तबाह किसान की दृष्टि में भी साहस की झलक दिखलाई पड़ती है, उसकी कमर अब पहले की तरह झुकी हुई नहीं है। अब समय आगया है जब हमारे सामने बहुत बड़े मसले हैं, जिनका तय होना जरूरी है। उन समस्याओं का निर्णय केवल राजनीतिज्ञों द्वारा न हो सकेगा, क्योंकि उनमें व्यापक बुद्धि या विशेष ज्ञान का अभाव हो सकता है। उन समस्याओं का फैसला केवल वैज्ञानिकों द्वारा भी नही हो सकता है जो प्रत्येक पहलू को देख सकते हैं। उन समस्याओं का हल राजनीतिज्ञों और वैज्ञानिकों दोनों के ऐसे सहयोग द्वारा ही हो सकेगा जो किसी पूर्व-निश्चित सामाजिक उद्देश्य को अपना आधार माने।

उस सामाजिक उद्देश्य का होना जरूरी है, क्योंकि उसके बिना हमारे प्रयत्न व्यर्थ और तुच्छ होंगे और उन प्रयत्नों में पारस्परिक सहयोग का भी अभाव होगा। सोवियट रूस के सम्बन्ध में हम जानते ही हैं कि उचित उद्देश्य और पारस्परिक सहयोग के साथ प्रयत्न करने से एक पिछड़ा हुआ मुल्क भी ऐसा उन्नत औद्योगिक देश बन गया है, वहां का

सामाजिक जीवन अब बराबर ऊंचा उठा रहा है। यदि हम भी तेजी से उन्नति करना चाहते हैं तो हमें भी कुछ ऐसे ही तरीकों का प्रयोग करना पड़ेगा।

हमारे देश में सबसे महत्वपूर्ण समस्या ज़मीन की समस्या है; लेकिन उससे बहुत निकट का सम्बन्ध रखनेवाली समस्या उद्योग-धन्धों की भी है। उनके साथ-साथ समाज-सुधार की भी समस्याएं हैं। इन सब समस्याओं को साथ-ही-साथ हल करना होगा। उनके लिए एक सम्बद्ध कार्य-क्रम निर्धारित करना होगा। यह योजना बहुत विशाल है; किन्तु इसका दायित्व अब कंधों पर संभालना ही होगा।

पिछले साल अगस्त में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के निर्माण के बाद कांग्रेस कार्यसमिति ने एक प्रस्ताव पास किया था, जिससे वैज्ञानिकों और विशेषज्ञों को दिलचस्पी होनी चाहिए। प्रस्ताव इस प्रकार है :

"कार्यसमिति मन्त्रि-मंडलों से सिफारिश करती है कि वे विशेषज्ञों की एक कमेटी नियुक्त करें। वह कमेटी उन महत्व-पूर्ण समस्याओं पर विचार करेगी, जिनका राष्ट्रनिर्माण और सामाजिक सुव्यवस्था के लिए हल होना अत्यन्त आवश्यक है। उन समस्याओं को हल करने के लिए बड़े पैमाने पर पैमाइश और बहुत से आंकड़ों का इकट्ठा किया जाना जरूरी होगा और राष्ट्रहित को ध्यान में रख कर उसके उद्देश्य भी निश्चित करने होंगे। इनमें से बहुत-सी समस्याएं प्रांतीय पैमाने पर हल नहीं की जा सकतीं। साथ ही पड़ोसी सूबों के अनेक हित परस्पर सम्बन्धित हैं। विनाशकारी बाढ़ों को

रोकने के लिए, सिंचाई की समस्या तथा बाढ़ के कारण ज़मीन की स्थिति में अंतर आजाने की समस्याओं पर विचार करने के लिए, मलेरिया के आक्रमणों की संभावना को कम करने के लिए और पानी से बिजली निकालने की योजना को विस्तार देने के लिए नदियों की पूरी-पूरी पैमाइश होनी ज़रूरी है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए नदियों की घाटियों की पैमाइश और जांच करने की तथा सरकार की तरफ से बड़ी-बड़ी योजनाओं को चालू करने की जरूरत होगी। औद्योगिक उन्नति और उद्योग-धन्धों के नियंत्रण के लिए भी प्रांतों के पारस्परिक सहयोग की बड़ी आवश्यकता है। इसलिए कार्य-समिति की सलाह है कि शुरू मे विशेषज्ञो की एक अंतर्प्रांतीय कमेटी की नियुक्ति की जाय, जो इस बात को तय करे कि किन-किन समस्याओं पर और किस क्रम से विचार किया जाय।''

इस सम्बन्ध में कुछ कार्य तो हुआ भी है। कुछ कमेटियां भी नियुक्त की गई हैं; लेकिन इस दिशा में और अधिक काम होना चाहिए। विशेषज्ञों को बहुत बड़े पैमाने पर बड़ी-बड़ी समस्याओं को हल करना चाहिए। सार्वजनिक शिक्षा के लिए अजायबघर और स्थायी प्रदर्शनियों की योजना होनी चाहिए। ऐसी योजनाए किसानों के लिए खास तौर पर जिले-ज़िले मे होनी चाहिए। मुझे किसानों की शिक्षा के लिए बनाए गये सोवियट रूस के अद्भुत अजायबघरों की याद आती है और मैं उनकी तुलना यहां की उन अजीबो-गरीब नुमायशों से करने लगता हूं, जिनकी कभी-कभी योजना

की जाती है। मुझे म्यूनिक के उस विशाल और अद्भुत अजायबघर की भी याद आती है और कभी-कभी मुझे यह हसरत होने लगती है कि क्या हिन्दुस्तान में भी कभी ऐसी चीजें होंगी।

ऐसे मामलों में नेतृत्व करना विज्ञान-परिषदों का काम है और इन विषयों पर सरकार को सलाह देना भी वैज्ञानिकों का ही काम है। सरकार को उनके साथ सहयोग करना चाहिए, उनकी सहायता करनी चाहिए और उनकी विशेष योग्यता से लाभ उठाना चाहिए। लेकिन विज्ञान-परिषदों को हर समय सरकार की ओर से ही प्रेरणा की प्रतीक्षा न करनी चाहिए। हमे इस बात की आदत-सी होगई है कि हर मामले में सरकार की ओर से काम की शुरूआत का इंतज़ार करते रहें। काम शुरू करना सरकार का काम जरूर है, लेकिन योजनाओं की खुद शुरूआत करना वैज्ञानिकों का भी कर्तव्य है। एक दूसरे का इंतजार करने के लिए हमारे पास वक्त नहीं है। हमें आगे बढ़ना चाहिए।